गुरुत्तं

भाग–21

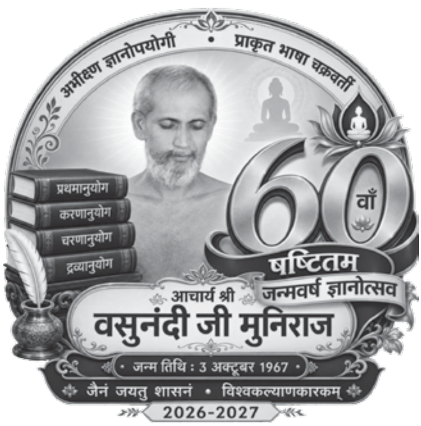

प्रवचनकार

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी

आचार्य श्री १०८ वसुनंदी जी मुनिराज

प. पू. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, प्राकृतभाषा चक्रवर्ती आचार्य गुरुवरश्री वसुनंदी जी मुनिराज के 60वें जन्म दिवस के अवसर पर प्रकाशित

कृति : गुरुत्तं भाग–21

मंगलाशीष : श्वेतपिच्छाचार्य श्री 108 विद्यानंद जी मुनिराज

प्रवचनकार : आचार्य श्री 108 वसुनंदी जी मुनिराज

संपादन : आर्यिका वर्धस्व नंदिनी

संस्करण : प्रथम सन् 2026

प्रतियाँ : 1000

ISBN : **978-93-94199-70-5**

मूल्य : 130/- (Not for Sale)

प्रकाशन : निर्ग्रन्थ ग्रंथमाला समिति (रजि.)

प्राप्ति स्थल : निर्ग्रन्थ ग्रंथमाला समिति कार्यालय
मो. 9971548889, 8800091252

मुद्रक : मित्तल इंडस्ट्रीज़, नई दिल्ली
मो. 9312401976

Visit us @ www.acharyavasunandi.com

संपादकीय

जाग्रत्त्वं सौमनस्यं च कुर्यात्सद्वागलं परः।
अजलाशयसम्भूत - ममृतं हि सतां वचः।।

समीचीन वचन जागृति और सुजनता को करते हैं, अथवा अधिक कहने से क्या लाभ, वास्तव में साधुओं के वचन बिना समुद्र से उत्पन्न हुआ अमृत है।

साधु पुरुषों की वाणी मात्र शब्दों का उच्चारण नहीं होती, जब उनकी वाणी में अनुभव का गाम्भीर्य, आगम का रहस्य और तप-त्याग का ओज मिश्रित हो जाता है तब वही वाणी अनेक लोगों के जीवन का समीचीन मार्गनिर्देशन करने में समर्थ हो जाती है, उनकी दृष्टि सम्यक् कर उन्हें सही दिशा देने वाली हो जाती है। कुछ बातें व्यक्ति सुनता है और भूल जाता है, कुछ बातें स्मृति में रह जाती हैं किन्तु कुछ बातें ऐसी होती हैं जो जीवन के किसी मोड़ पर हमें सम्बल प्रदान करती हैं और अपने ही विचार, व्यवहार और जीवन को नए ढंग से देखने के लिए प्रेरित वा विवश कर देती हैं। साधु पुरुषों की वाणी की सार्थकता भव्यजीव के लिए इसी में है कि वह कर्णमार्ग से प्रवेश करे और आत्मा की निर्वाण यात्रा पूर्ण करे।

परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, प्राकृतभाषा चक्रवर्ती आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज की प्रवचन-शैली में इसी अनुभूति का एक विशिष्ट माधुर्य है। उनकी वाणी में आगम का गाम्भीर्य है, जीवन की समस्याओं का विश्लेषण है। यही कारण है जीवन को आध्यात्म से जोड़ने वाले एवं जीवन जीने की कला सिखाने वाले आचार्य भगवन के प्रवचन मात्र धर्मसभा में सुन लिए जाने वाले वक्तव्य

नहीं रहते अपितु वे श्रोता के साथ उसके घर तक आते हैं, व्यवहार में प्रश्न बनकर खड़े होते हैं और अनेक बार किसी सहज सूत्र की तरह उसकी स्मृति में स्थायी स्थान बना लेते हैं।

आचार्य गुरुवर के प्रवचन जनमानस में 'मीठे प्रवचन' के रूप में विशेष रूप से पहचाने जाते हैं। यह मिठास केवल भाषा की मधुरता नहीं है। यदि वाणी मात्र प्रिय लगे किन्तु सार्थकता न हो तो वह माधुर्य क्षणिक है। आचार्य गुरुवर की वाणी की मिठास विलक्षण है—वह सुनने में जितनी सहज लगती है उसके विचार में आते ही उतनी गंभीरता का अनुभव होता है। जैसे एक माँ बच्चे को बताशे में औषधि रखकर सहजता से दे देती है; बच्चा मिठास समझकर उसे ग्रहण करता है, पर वही औषधि उसके शरीर के भीतर जाकर रोग को दूर करने और उसकी पूरी जैविक व्यवस्था को सन्तुलित करने का कार्य करती है। इसी प्रकार आचार्य गुरुदेव की वाणी भी सरल प्रसंग, मधुर भाषा और सहज उदाहरणों के माध्यम से अन्तरङ्ग में प्रवेश करती है, किन्तु वहाँ पहुँचकर हमारी दृष्टि, वृत्तियों और व्यवहार में गहरा समीचीन परिवर्तन आरंभ कर देती है।

एक समर्थ वक्ता की पहचान मात्र इससे नहीं होती कि वह कितना गूढ़ बोल सकता है; अपितु उसकी वास्तविक सामर्थ्य इस बात में है कि वह गूढ़ को कितना सहज बना सकता है। सिद्धांतों के गाम्भीर्य के साथ धर्म को सामान्य व्यक्ति के जीवन में पहुँचा देना ही वक्ता की श्रेष्ठता की प्रामाणिकता है। आचार्य भगवन् जब आगमिक सिद्धांतों को दैनिक जीवन के प्रसंगों, सहज दृष्टान्तों, मानवीय मनोवृत्तियों और परिचित परिस्थितियों से जोड़ते हैं तब श्रोताओं को ऐसा नहीं लगता कि वे किसी दूरस्थ दार्शनिक अवधारणा या गूढ़ सिद्धान्तों को सुन रहे हैं; उन्हें लगता है—ये तो हमारे ही मन की बात है, हमारे ही व्यवहार का दर्पण है।

सिद्धान्त वा आगम जब जीवन का दर्पण बन जाए, तभी उसकी उपयोगिता प्रत्यक्ष होती है।

आज मनुष्य के पास सूचनाओं की कमी नहीं है। एक स्पर्श (touch) में संसार का ज्ञान सामने आ जाता है; फिर भी अपने मन को, आत्मा को समझने की कठिनाई पहले से कम नहीं हुई। साधन तो बढ़े पर उसी अनुपात में शान्ति नहीं, सम्पर्क बढ़े किन्तु संबंधों में आत्मीयता नहीं, अभिव्यक्ति के माध्यम बढ़े किन्तु संवाद की संवेदनशीलता नहीं। ऐसे में धर्म की भाषा यदि मात्र पारम्परिक शब्दावली में सीमित रह जाए तो नई पीढ़ी और सामान्य जीवन जीने वाला व्यक्ति उसे जीवन से नहीं जोड़ पाता। आवश्यकता है ऐसी वाणी की, जो शाश्वत सिद्धांतों को उनकी गरिमा के साथ युग की भाषा में समझा सके।

आचार्य गुरुवर की प्रवचन-कला का महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य यही संतुलन है। वे आधुनिक जीवन के प्रश्नों को देखते हैं, मनुष्य की मानसिक उलझनों को पहचानते हैं, बदलते हुए सामाजिक व्यवहार को समझते हैं और समाधान का आधार आगम व अध्यात्म को ही बनाते हैं। आचार्य गुरुदेव के प्रवचनों में अनेक उदाहरण समकालीन होते हैं, किन्तु उनमें तथ्य बहुत गहरे छिपे होते हैं।

'गुरुत्तं' की यह 21वीं श्रृंखला उसी प्रवचन-परम्परा की एक और कड़ी है। बीस शृंखलाओं की सतत यात्रा के पश्चात् 21वें सोपान तक पहुँचना केवल पुस्तकों की संख्या में एक और अंक जुड़ जाना नहीं है। प्रत्येक शृंखला गुरुवाणी के उस प्रवाह का एक पात्र है। प्रवचन का अपना एक जीवंत क्षण होता है-वक्ता सामने होता है, श्रोता उपस्थित होते हैं, स्वर का आरोह-अवरोह होता है, भावों की तरंगें होती हैं और प्रसंग की अपनी तात्कालिकता होती है। वह क्षण बीत जाता है, किन्तु जब उस वाणी को सावधानी व

संवेदनशीलता के साथ लिपिबद्ध किया जाता है तब वह उस काल की सीमा पार कर पाठक तक पहुँचने लगती है।

पूज्य आचार्य गुरुदेव के मुख से निःसृत मीठे प्रवचनों के जो साक्षात् साक्षी रहे, जिन्हें वे प्रत्यक्ष कर्णगोचर हुए, वे तो पुण्यवंत हैं हीं, किन्तु उस समय जो उनसे वंचित रहे वे भी उन्हें प्राप्त कर सकें। कहीं-कहीं उन्हें यह भी अनुभूति हो कि गुरुदेव के सान्निध्य में बैठकर उन्हीं की वाणी को सुन रहे हैं। इसी भावना से यह 'गुरुत्तं' की शृंखला प्रारंभ की गई थी।

प्रस्तुत कृति **'गुरुत्तं-21'** का सम्पादन हमारे लिए अत्यन्त सौभाग्य की बात है। यद्यपि प्रवचनों को पढ़ते हुए अनेक बार यह अनुभूति हुई कि हम गुरुवाणी का संपादन कहाँ कर रहे हैं अपितु गुरुवाणी ही धीरे-धीरे हमारे विचारों, दृष्टि, अन्तर्मन और चेतना का संपादन कर रही है। गुरु-साहित्य-साधना का शायद सबसे बड़ा प्रसाद यही है कि हम अक्षरों को संवारने का निमित्त बनते हैं और वे अक्षर अनायास ही हमें अन्तरंग से संवारने लगते हैं।

सच तो यह है कि गुरुवर की वाणी के सम्मुख 'संपादन' शब्द लिखते हुए भी मन संकुचित होता है। जिस वाणी के मूल में दीर्घकालीन स्वाध्याय हो, आगम का गहन अवगाहन हो, संयम की साधना और जीवन को भीतर तक देखने वाली अनुभवी दृष्टि हो, उसमें एक शिष्य के माध्यम से क्या संपादन किया जा सकता है। सूर्य के प्रकाश को दीपक उज्ज्वल नहीं करता और सागर की विशालता को कोई छोटा पात्र बढ़ा नहीं सकता।

जहाँ कहीं इस पुस्तक में सौंदर्य, शब्द सौष्ठवादि है वह सब पूज्य आचार्य गुरुदेव का ही है; किन्तु यदि कहीं कुछ अव्यवस्थित है तो वह मेरी अल्पज्ञता ही है। सुगंध तो पुष्प की होती है, उसे अंजलि में धारण करने वाले हाथ की नहीं। यह मेरा सौभाग्य ही है

कि गुरुकृपा ने उस पुष्प को कुछ समय अपनी अंजलि में संभालने का अवसर दिया।

हमारी मंगलभावना है कि 'गुरुत्तं' की यह 21वीं शृंखला पूर्ववर्ती शृंखलाओं की भाँति पाठकों के लिए पठनीय, चिन्तनीय और जीवन में प्रयोग करने योग्य बने। कोई इसे पढ़कर जीवन में एक अच्छाई स्वीकार कर सके, कोई संबंधों में थोड़ी अधिक संवेदनशीलता ला सके, कोई प्रतिकूलता में भी अनुकूलता देख सके और अपनी शाश्वत निधि को प्राप्त करने हेतु पुरुषार्थशील हो सके।

इस कृति के संपादन में आर्यिका श्री वर्चस्वनंदिनी एवं आर्यिका श्री यशोनन्दिनी माता जी का श्रमपूर्ण सहयोग भी उल्लेखनीय है। श्रुत की सेवा वस्तुतः किसी एक व्यक्ति का कार्य अथवा कर्तृत्व नहीं, जिनवाणी की प्रभावना में प्राप्त एक मंगल अवसर है। इस कार्य में उन्होंने जिस सूक्ष्म दृष्टि, आगमिक सजगता और निष्ठा के साथ अपना समय एवं श्रम नियोजित किया, वह साधर्मी वात्सल्य की सहज अभिव्यक्ति है।

प्रस्तुत कृति के प्रकाशन, मुद्रणादि में सहयोगी सभी धर्मस्नेही महानुभावों को पूज्य आचार्य गुरुदेव का शुभाशीष। आचार्य गुरुदेव का मंगल आशीर्वाद उनके जीवन-पथ को सदैव आलोकित करता रहे।

जिनेन्द्र प्रभु के चरणों में अनन्त विनय के साथ यही भावना है कि उनकी ज्ञानधारा इसी प्रकार निराबाध प्रवाहित होती रहे। उनकी आरोग्य-संपदा अक्षुण्ण रहे, उनका संयममय, ज्ञानमय और तपःपूत सान्निध्य जिनशासन की निःसीम प्रभावना करता रहे।

परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, प्राकृतभाषा चक्रवर्ती आचार्य श्री वसुनन्दी जी मुनिराज के चरणों में सिद्ध, श्रुत, आचार्य भक्ति सहित अनन्तशः नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु....

- आर्यिका वर्धस्व नंदिनी

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ सं.
1.	चलते-फिरते जिनालय	1
2.	'नियम' नियम से कल्याणकारी	14
3.	आत्मानुघाती-असंयम	27
4.	सुमार्ग का भाजक कौन?	53
5.	पूजा का फल	62
6.	त्रिकाल पूजन	73
7.	बड़ा बनने का रहस्य	84
8.	चार कदम भीतर की ओर	101
9.	मूल्यांकन की सही कसौटी	117
10.	धर्म-शाश्वत सहचर	129
11.	निर्मल चित्त-परम तीर्थ	140
12.	वजन नहीं, भजन बढ़ाइए	148
13.	सदुपयोग का विवेक	156
14.	स्वयं के स्वामी बनें	165
15.	ठहराव-आत्मा की ओर लौटना	177

चलते-फिरते जिनालय

महानुभाव! एक व्यक्ति को अपने खेत की जुताई करते समय एक चमकता हुआ पत्थर मिला। वह उस पत्थर को अपने घर ले गया, और अपने पुत्र को खेलने के लिए दे दिया। चमकते हुए पत्थर को प्राप्त करके बालक बहुत आनंदित हुआ।

कई बार ऐसा होता है कि कोई उत्कृष्ट वस्तु हमारे पास आ जाती है और हम उसके वास्तविक मूल्य को पहचान नहीं पाते, फिर भी उसका प्रभाव हमारे अनुभव में अवश्य आता है। जैसे कोई छोटा बालक घुटनों के बल चलता-चलता धूप से छाया में पहुँच जाता है, तो उसे छाया अच्छी लगती है। सर्दी के दिनों में वही बालक जब छाया से धूप में पहुँचता है, तो उसे धूप अच्छी लगने लगती है। वह छोटा बालक, जो अभी मात्र छह महीने का है, न तो यह जानता कि धूप क्या है और न यह कि छाया क्या है। वह दोनों की परिभाषा भी नहीं जानता, किन्तु इतना अवश्य है कि जाने बिना भी धूप और छाया का अलग-अलग अनुभव करता है।

महानुभाव! इसी प्रकार कई बार हम लोग भी उत्कृष्ट और निकृष्ट वस्तु का सही-सही परिज्ञान कर पाएँ या न कर पाएँ, फिर भी उनका प्रभाव स्वतः हमारे अनुभव में आ जाता है। मान लीजिए, आप अनजाने ही किसी पुष्प वाटिका अथवा फूलों से लदे वृक्षों के समीप से गुजर रहे

हैं। वहाँ से बहती हुई सुगंधित वायु आपके नासापुटों तक पहुँचती है, तो मन को सहज ही आनंद और संतुष्टि मिलती है और किसी कत्लखाने के पास से गुजरते समय जब दुर्गंध आपके नासापुटों तक पहुँचती है, तो आपको चक्कर व उल्टी आने लगती है।

वह चमकता हुआ पत्थर बालक के हाथ में था। तभी एक व्यक्ति सब्जी बेचने के लिए उस गली में आया। उसने बालक के हाथ में चमकता हुआ पत्थर देखा। वह उस पत्थर के संबंध में कुछ जानता था। उसने किसान से कहा–"आपको कुछ सब्जी चाहिए तो ले लीजिए"। उस किसान ने कहा–"मेरे पास अभी पैसे नहीं हैं।" सब्जी वाला बोला–"भैया कोई बात नहीं, सब्जी ले लीजिए।" किसान ने कहा–"बिना पैसे दिए मैं सब्जी कैसे ले सकता हूँ?" सब्जी वाले ने कहा–"कोई बात नहीं, आप इस पत्थर के बदले सब्जी ले लो। ये पत्थर मुझे दे दो और बदले में जितनी सब्जी चाहिए, ले लीजिए।" भैया! मुझे सब्जी की आवश्यकता नहीं है। सब्जी वाला पुनः बोला–"अरे! चाहे तो मेरी सारी सब्जी ले लीजिए।" किसान के मन में विचार आया कि ये सब्जी वाला इस चमकते पत्थर पर इतना रीझ क्यों रहा है, मैं तो इस पत्थर की इतनी कीमत नहीं समझ रहा था। संभव है, इसकी कीमत इन सब्जियों से भी कहीं अधिक हो।

सब्जी वाला तो चला गया, किंतु किसान के मन में उस पत्थर का मूल्य जानने की उत्सुकता जाग गई। उसने पत्थर

को अपनी झोली में डाला और उसे बेचने के लिए बाजार की ओर चल दिया।

वह एक कपड़े वाले की दुकान पर पहुँचा और उससे कहा–''भाई! मैं ये पत्थर बेचने के लिए आया हूँ। आप इसे कितने में लेंगे? कपड़े वाले ने कहा–''भाई! मुझे इस पत्थर के विषय में कोई जानकारी नहीं है, इसलिए मैं इसे नहीं खरीदूँगा।'' किसान आगे बढ़ गया। अब वह स्वर्णकार के पास पहुँचा, उसने स्वर्णकार को वह पत्थर दिखाते हुए कहा–''साहब! मैं इसे बेचने के लिए लाया हूँ, आप इसका क्या दाम देंगे? स्वर्णकार बोला–''मैं इस पत्थर के पाँच रुपये दे सकता हूँ।

कृषक को लगा कि पाँच रुपये तो बहुत कम हैं। वह वहाँ से आगे बढ़ा और एक जौहरी की दुकान पर पहुँचा। उसने जौहरी को वह पत्थर दिखाया। जौहरी ने कहा–''मैं इस पत्थर के पाँच सौ रुपये दे सकता हूँ।''

कृषक ने सोचा–''यह निश्चित ही कोई रत्न होगा।'' अब वह उस पत्थर को पाँच सौ रुपये में बेचकर वापस लौट रहा था। रास्ते में वही स्वर्णकार मिला। उसने किसान को बुलाकर पूछा–''भाई! वह पत्थर कहाँ है? किसान बोला–''वह तो मैंने बेच दिया।'' कितने में बेच दिया? भाई! मैंने तो उसे पाँच सौ रुपये में बेच दिया, जिसके तुम मुझे केवल पाँच रुपये दे रहे थे।'' स्वर्णकार बोला–''अरे मूर्ख! वह साधारण पत्थर नहीं था, पाँच लाख रुपये की

कीमत का हीरा था। उसे तू केवल पाँच सौ रुपये में बेचकर आ गया।''

उस किसान ने कहा–''भाई! मैं तो वास्तव में मूर्ख हूँ, अनपढ़ आदमी हूँ। मैं तो केवल मिट्टी की परख जानता हूँ कि किस मिट्टी में कैसी खेती अच्छी हो सकती है। मैं भला पत्थरों के विषय में क्या जानूँ, किन्तु भाई! तुमने मुझे मूर्ख कह दिया, यह बात मैं स्वीकार कर लेता हूँ कि मैं पाँच लाख की वस्तु को पाँच सौ रुपये में बेच आया; किन्तु मैं तो अपने आपको तुमसे अधिक बुद्धिमान समझता हूँ।

सब्जी वाला अपनी पूरी सब्जी मुझे देकर वह पत्थर लेना चाहता था, किन्तु मैं उसे नहीं दे पाया। कपड़े वाले ने साफ मना कर दिया कि 'भाई! मैं इस पत्थर के विषय में कुछ जानता ही नहीं, इसलिए इसे नहीं लूँगा। परंतु तुम तो जानते थे कि इसकी कीमत पाँच रुपये नहीं, पाँच लाख रुपये है। फिर जानते हुए भी तुमने इसे नहीं खरीदा। अब बताओ, सबसे बड़ी मूर्खता किसने की–मैंने या तुमने?

महानुभाव! जब तक किसी वस्तु का सही मूल्य मालूम नहीं पड़ता, तब तक उसके प्रति अहोभाव नहीं आता। यदि आपके पास एक रुपये वाला पेन है, और वह लिखते-लिखते गुम जाए, तो आपको उसके खोने का अधिक दुःख नहीं होगा; आप सोचेंगे चलो, दूसरा पेन ले लूँगा। किन्तु यदि आपके किसी अभिन्न मित्र ने आपको चाँदी का पेन भेंट किया हो, जिसकी कीमत चार-पाँच हजार रुपये हो अथवा स्वर्ण का पेन भेंट किया हो, जिसकी कीमत पाँच लाख

रुपये की हो, तो उसके गुम हो जाने पर दुःख ज्यादा होगा। आप सदैव उसका प्रयोग करते समय सतर्क रहेंगे।

वस्तु का महत्व उस समय बढ़ जाता है, जब उसकी वास्तविक कीमत का सही परिज्ञान हो जाता है। मूल्य का परिज्ञान हुए बिना हम उसे सही महत्व नहीं दे पाते और न ही उसे वह सम्मान व आदर का स्थान दे पाते हैं, जिसका वह वास्तव में अधिकारी है।

महानुभाव! आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी जी ने बोधपाहुड़ में दिगंबर साधुओं की महिमा का वर्णन किया है। यदि दिगंबर साधुओं की महिमा हमारी समझ में आ जाए, तो हमारे पुण्य का जो आस्रव हो रहा है, वह और बढ़ जाएगा, निर्जरा भी बढ़ जाएगी। क्योंकि महिमा सुनने से हमारी विशुद्धि बढ़ती है और संक्लेशता की हानि होती है।

एक महिला को एक चमकता हुआ पत्थर मिला, वह नहीं जानती थी कि वह हीरा है। उसने उस पत्थर को शौक-शौक में अपनी कमर में बाँध लिया। वह महिला, जिसके पास स्वर्णाभूषण तो दूर की बात, धातु के आभूषण भी नहीं थे, फूलों के आभूषण पहनती थी। वह महिला हीरा पहने हुए थी। किसी कवि ने लिखा है–

हीरा अपनी खानि को बार-बार पछिताए।
गुण कीमत जानै नहीं, तहाँ बिकानो आए।।
तहाँ बिकानो आए छेद करि कटि में बाँध्यो।
बिन हरदी बिन लौन, साग ज्यों फूहर राँध्यो।।
कह गिरधर कविराय, कहाँ लगि धरिए धीरा।
गुन कीमत घटि गई, यहै कहि रोयेव हीरा।।

महानुभाव! कहने का अभिप्राय यह है कि जब तक किसी के वास्तविक मूल्य और महत्व को नहीं जानते, तब तक अनजाने में उसका अपमान भी हो सकता है।

आचार्य महाराज कह रहे हैं कि दिगम्बर अवस्था कोई सामान्य अवस्था नहीं है। दिगम्बर अवस्था का क्षणमात्र के लिए भी भावपूर्वक अवलोकन करने से असंख्यात भवों के पापों का नाश हो सकता है। आचार्यों ने लिखा है–

दर्शनं देवदेवस्य दर्शनं पाप-नाशनम्।
दर्शनं स्वर्ग-सोपानं दर्शनं मोक्षसाधनम्।।

अर्थात् देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन पापों का नाश करने वाले, स्वर्ग की सीढ़ी और मोक्ष के साधन हैं।

दर्शनेन जिनेन्द्राणां, साधूनां वंदनेन च।
न चिरं तिष्ठते पापं छिद्रहस्ते यथोदकम्।।

आचार्य भगवन् वीरसेन स्वामी जी ने कहा है कि जिनेन्द्र भगवान के दर्शन से पापरूपी विशाल हाथी उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जैसे वज्र के प्रहार से पर्वत विदीर्ण हो जाता है।

जिस प्रकार सछिद्र अंजलि में जल अधिक समय तक नहीं ठहरता, उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन और साधुओं की वंदना करने से पाप भी अधिक समय तक नहीं ठहरते। दर्शनपाठ में दिगंबरत्व की बहुत महिमा गाई गई है।

दर्शनेन जिनेन्द्राणां, पाप-संघात-कुञ्जरं।
शतधा भेद-मायाति, गिरि–वज्रो हतो यथा।।

नाममाला में साधु को 'तीर्थ' भी कहा है। सम्मेदशिखर

जी की वंदना करने से जो फल मिलता है, वही फल साधुओं की चरणवंदना करने से भी प्राप्त हो सकता है। अन्य स्थानों पर दिगम्बर साधु को 'जिन' भी कहा है। जिन्होंने इंद्रियों और मन को जीत लिया है, वे भगवान हैं। वट्टकेर स्वामी जी ने भी उन्हें भगवान माना है।

भिक्कं वक्कं हियं सोधियं जो चरिद णिच्च सो साहू।
ऐसो सुट्ठिद साहू, भणियो जिणसासणे भयवं॥

'भिक्कं'–जिस साधु की चर्या व भिक्षा शुद्ध है; 'वक्कं' जिस साधु के वचन शुद्ध हैं, जो सत्य बोलते हैं, भाषासमिति का पालन करते हैं और वचनगुप्ति का पालन करते हुए उत्तम सत्य धर्म का पालन करते हैं; ऐसे जिनके वचन हैं। 'हियं' जिनका हृदय परिशुद्ध है, जिनके हृदय में करुणा का झरना बहता रहता है, मन में दया है और आत्मकल्याण की तीव्र पिपासा है, जिनवचनों को जो प्यासे चातक की तरह से सुनते हैं, भगवान की स्तुति, वंदना में जिनका मन लगता है, जो प्रमाद से रहित होकर शांत भाव से बैठते हैं।

कोई उन्हें कुछ बुरा कह दे, तब भी उनके मन में कोई खिन्नता नहीं आती और कोई जय-जयकार कर रहा हो, तब भी मन में हर्ष नहीं आता। अरे! ये तो बहुत तपस्वी महाराज हैं, हमारे नगर में पदार्पण क्या हुआ–मानो सोने का सूर्य ही उग गया हो। ऐसे वचनों को सुनकर भी दोनों स्थितियों में परिणाम समान रहते हैं।

अरि मित्र महल मसान कंचन कांच निन्दन थुति करन।
अर्घावतारण असि-प्रहारण में सदा समता धरन॥

आप प्रतिक्रमण में भी पढ़ते हैं–

जीविय मरणे लाहालाहे, संजोग विप्पजोगे य।
बंधुरिय सुह दुक्खादो समदा सामाइयं णाम॥

जो जीवन-मरण में, लाभ-अलाभ में, संयोग-वियोग में, शत्रु-मित्र में तथा सुख-दुःख-दोनों परिस्थितियों में समता भाव रखते हैं, उनका हृदय शुद्ध होता है। कोई उनके प्रति प्रतिकूल व्यवहार करे, तब भी वे कोई प्रतिक्रिया नहीं करते। वे सोचते हैं कि यदि यह अज्ञानी है, नहीं जानता है, तो यह करुणा का पात्र है, क्रोध का नहीं। अज्ञानता और रागद्वेष-मोह के कारण कर्मों का बंध कर रहा है। यह दीर्घसंसारी है। यह मेरी निंदा व अपमान करके मेरे पाप कर्म की निर्जरा में निमित्त बन रहा है और स्वयं उन पाप वर्गणाओं का बंध कर रहा है। अतः यह तो दया का पात्र है। हे भगवान्! इसे सद्बुद्धि प्राप्त हो।

महानुभाव! इस प्रकार से जिसका हृदय शुद्ध है, जो प्राणी-मात्र में परमात्मा को देखता है–ऐसा भव्य जीव भविष्य का परमात्मा है।

''सोधियं जो चरिद णिच्च सो साहू'' जो साधु नित्य ही शोधन करके अपनी चर्या करते हैं, मन-वचन-काय की प्रत्येक प्रवृत्ति में सावधान रहते हैं और सदैव आत्मा

का शोधन करते रहते हैं–कहीं मेरी आत्मा में कोई पङ्क न लग जाए, कहीं पाप का मैल न चढ़ जाए, मेरी आत्मा कहीं मलिन न हो जाए–जो चौबीस घंटे सतत सावधान रहते हैं; प्रत्येक प्रवृत्ति में जिनके परिणाम विशुद्ध हो रहे हैं, **'ऐसो सुदिट्ठ साहू'** ऐसे साधुजन ही जिन भगवान के द्वारा उत्कृष्ट कहे गए हैं। जिनशासन में ऐसे साधु को भगवान् कहा गया है।

इसी बात को आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामीजी ने बोधपाहुड़ में कहा है–

बुद्धं जं बोहंतो, अप्पाणं चेइयाइं अण्णं च।
पंचमहव्वय-सुद्धं णाणमयं जाण चेदिहरं॥8॥

दिगम्बर साधु के बारे में आचार्य भगवन् कह रहे हैं–**'बुद्धं जो बोहंतो'** अर्थात् जो कोई भी भव्यजीव अपनी आत्मा को बोधमय, ज्ञानमय, दर्शनमय और चारित्रमय जानता है; जो अपनी आत्मा को सिद्धत्व का बीज और परमात्मा जानता है तथा **'अप्पाणं चेइयाइं अण्णं च'** अन्य जीवों को भी आत्मा का सद्बोध कराता है।

भाई! तुम कहाँ पर सो रहे हो? तुम्हारी आत्मा भी शक्तिरूपेण परमात्मा है। अभी इस आत्मा रूपी हीरे पर किट्टकालिमा जमी हुई है। जिस प्रकार अग्नि में तपकर स्वर्ण की कालिमा दूर हो जाती है और वह शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार तप की अग्नि में कर्मों की कालिमा दूर होते ही यह आत्मा कुन्दन बन जाएगी।

तुम अपनी आत्मा को हीन क्यों मानते हो? क्यों कहते हो कि मै दुःखी हूँ, मैं रंक हूँ, मैं कुरूप हूँ? या अहंकारवश ऐसा क्यों मानते हो कि मैं राजा हूँ, मैं प्रवीण हूँ, मैं सुंदर हूँ? ये सब तो पर्याय हैं, शरीरगत अवस्थाएँ हैं। आत्मा तो वास्तव में सर्वदा सुन्दर है। मेरी आत्मा से ज्यादा सुन्दर तो कुछ है ही नहीं।

हे भव्य! अपनी आत्मा को पहचानो। तुमने अपनी आत्मा का क्या हाल बना रखा है? अरे! अब तुम्हारे हाथ में हीरा आ गया, तो उसे काँच क्यों समझ रहे हो? जब तुम्हारे हाथ में चंदन की लकड़ी का बाग आ गया, तो उसे जला-जलाकर कोयला बनाकर क्यों बेच दिया? तुम्हारे हाथ में अमृत है, उससे तुम पैरों की कीचड़ क्यों धो रहे हो? तुम्हारे पास कामधेनु है और तुम उसे सामान्य गाय समझ रहे हो? तुम्हारे पास कल्पवृक्ष है और तुम उसे काटने की सोच रहे हो? तुम्हारे पास वह पारसमणि है जिससे लोहा को सोना बनाया जा सकता है और तुम उसे सामान्य-सा पत्थर समझ रहे हो?

इस प्रकार संबोधन देकर साधु अन्य आत्माओं को भी ज्ञान कराते हैं। और जो **'पंचमहव्वय-सुद्धं'** पंचमहाव्रतों से शुद्ध हैं; जिनके पास पाँच समिति, पंचेन्द्रिय निरोध, षट् आवश्यक तथा सात विशेष गुण भी हैं। इस प्रकार जिनके पास इन अट्ठाईस मूलगुणों के साथ-साथ बारह तप व बाईस परीषह रूप चौंतीस उत्तरगुण भी हैं। जिनका

भगवत्स्वरूप है, जो यथाजात दिगम्बर मुद्रा के धारी होते होते हैं। **'णग्गो हि मोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे'।**

नग्नता ही मोक्षमार्ग है, शेष सभी उन्मार्ग हैं। बिना नग्नता के आज तक किसी ने मोक्ष प्राप्त नहीं किया। हो सकता है, कोई इस क्षण मिथ्यादृष्टि हो और द्वितीय क्षण में वह सातवें गुणस्थान में पहुँच जाए। तीसरे क्षण वह श्रेणी पर चढ़ जाए और चौथा काल हो, उत्तम संहनन हो तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि बनकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

एक अन्तर्मुहूर्त में मिथ्यात्व से लेकर के वह सिद्ध भगवान् तक की यात्रा कर सकता है। कौन जानता है, कब, किसके परिणाम कैसे हो जाएँ। इसीलिए चित्र में बनी हुई जिनमुद्रा की भी अवहेलना मत करो। यदि भगवान की मूर्ति का संस्थान ठीक नहीं है, उसमें कोई विकल्प नहीं करो। संस्थान गड़बड़ हो सकता है, वह भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है। समचतुरस्र संस्थान तीर्थंकरों का होता है। अन्य भगवान का संस्थान यदि अन्य भी हो तब भी वे भगवान हैं, पूजनीय हैं, उनमें वीतरागता है, भगवत्ता है।

यदि किसी साधु में चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से कोई शिथिलता आ रही हो, तब भी उनके प्रति हीन भावना मत रखो। हीन भावना रखने से उनका कुछ नहीं बिगड़ेगा, जिसके मन में हीन भावना आई है, उसके पाप कर्म का बंध हो जाएगा। और यदि वह साधु हीन भी है, तब भी उसके प्रति अच्छी भावना रखोगे तो हीनता का पाप उस

साधु को ही लगेगा, किंतु अच्छे भावों को रखने वाले को तो पुण्य का ही आस्रव होगा।

महानुभाव! आचार्य महोदय कह रहे हैं—जो पाँच महाव्रतों से संयुक्त है और अपनी आत्मा को भी ज्ञानमय जानते हैं, ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाली आत्मा को जानते हैं, वह साक्षात् साधु नहीं, अपितु चैत्यघर (जिनमंदिर) हैं। ऐसा कुन्दकुन्द स्वामी स्वयं कह रहे हैं। आप कई बार कहते हैं—ये साधुगण तो हमारे लिए चलते-फिरते जिनालय हैं।

धन वैभव के जिन्हें न भाए आलय हैं।
वे चारित्र के सच्चे हिमालय हैं॥
अरे! मंदिर की मूर्तियाँ तो मौन रहती हैं।
हमारे गुरु विद्यानंद जी तो चलते-फिरते जिनालय हैं॥

साधु परमेष्ठी चलते-फिरते जिनालय हैं। कृत्रिम-अकृत्रिम चैत्यालय अनंत जीवों के पापों का नाश करने में समर्थ हैं, अनंत जीवों को पुण्य देने में कारण हैं। अकृत्रिम चैत्यालयों की वंदना करके अनंत जीवों ने पाप का नाश कर दिया अथवा पुण्य का संचय किया, तो इससे उन चैत्यालयों की महिमा में कोई कमी नहीं आएगी। जैसे सूर्य अपना प्रकाश देता है और आगे बढ़ जाता है। किंतु उसके प्रकाश में कोई कमी नहीं आती। रत्न भी अपना प्रकाश देते हैं, किंतु उनके प्रकाश में कमी नहीं आती; सामने वाले का अंधकार दूर हो जाता है।

महानुभाव! उन पंचमहाव्रत से शुद्ध जीवंत चैत्यालयों के लिए, उन जिनमंदिरों के लिए, उन दिगम्बर साधुओं के

लिए मैं स्वयं वसुनंदी मुनिराज मन-वचन-काय से बारम्बार प्रणति करता हूँ, नमोस्तु करता हूँ। उन उपाध्याय परमेष्ठियों को नमस्कार करता हूँ, आचार्य परमेष्ठियों को नमस्कार करता हूँ, अरिहंत-सिद्धों को नमस्कार करता हूँ। क्योंकि एक बार भी मन से नमस्कार किया तो असंख्यात कर्मों की निर्जरा संभव है। एक बार नमस्कार किया तो अशुभ का संवर हुआ, एक बार नमस्कार किया तो सातिशय पुण्य का बंध हुआ। मैंने तीनों योगों से नमस्कार किया; उस पुण्य की महिमा को कौन कह सकता है। यदि वचनमात्र से भी कोई नमस्कार कर ले, तब भी शुभ वचनयोग हो जाएगा। मिथ्यादृष्टि ने केवल हाथ भी जोड़ लिए तब भी काय संबंधी पुण्य का आस्रव हो गया। मन में विचार भी कर लिया तो मन संबंधी पुण्य का आस्रव हो गया।

महानुभाव! ऐसे दिगम्बर संत के चरणों में कोई भी भव्य जीव एक बार भी भाव सहित श्रद्धा से नमस्कार करता है, तो वह नियम से आसन्न-भव्य जीव है, निकट भविष्य में मोक्ष को प्राप्त करेगा।

आप भी अपनी आत्मा का कल्याण करने में समर्थ बनें, ऐसी हम आप सभी के प्रति भावना भाते हैं और इन्हीं भावनाओं के साथ शब्द शृंखला को विराम देते हैं।

॥ श्री शान्तिनाथ भगवान की जय ॥

'नियम' नियम से कल्याणकारी

महानुभाव! संसार का प्रत्येक प्राणी अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार अपना हित करने का यत्न करता है। कुछ जीवों का प्रयत्न मिथ्या होता है, तो कुछ जीवों का प्रयत्न सम्यक् होता है। मिथ्या यत्न अनेक बार भी किया जाए, किन्तु उससे सम्यक् लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती और समीचीन यत्न एक बार भी किया जाए, तो नियमतः उससे लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है।

हमारे पास क्या क्षमताएँ हैं, क्या-क्या साधन हैं और उन्हें प्राप्त करके हमें क्या करना है? यह जानना आवश्यक है। जिस व्यक्ति के पास जो भी साधन हैं, उसे यह विचार करना चाहिए कि इन साधनों के माध्यम से हम पुण्य का संचय कैसे कर सकते हैं? साधन कुछ भी हो-उसके माध्यम से पुण्य भी कमाया जा सकता है और पाप भी।

संसार की प्रत्येक वस्तु आपके जीवन में वरदान स्वरूप भी हो सकती है और अभिशाप स्वरूप भी बन सकती है। अब यह उस व्यक्ति पर निर्भर करता है कि उसके पास जो वस्तु है, वह उसका किस प्रकार सदुपयोग करता है। दोष वस्तु का नहीं, उसका उपयोग करने वाले व्यक्ति का है; यदि वह उसका दुरुपयोग करता है। विशेषता उस वस्तु की नहीं, अपितु उस व्यक्ति की है, जो उस वस्तु का उपयोग अच्छी तरह से करता है। अतः सब कुछ उस व्यक्ति के उपयोग पर निर्भर करता है।

महानुभाव! एक व्यक्ति सातिशय पुण्य के उदय में भी पाप का बंध कर सकता है और एक व्यक्ति पुण्य के उदय में पुण्य का बंध भी कर सकता है। एक व्यक्ति तीव्र पाप के उदय में पाप का बंध कर सकता है। एक व्यक्ति तीव्र पाप के उदय में भी पुण्य का बंध कर सकता है। जैन दर्शन में चार प्रकार के बंध की बात कही गई है–

1. पुण्यानुबंधी पुण्य 2. पुण्यानुबंधी पाप 3. पापानुबंधी पुण्य 4. पापानुबंधी पाप।

'पापानुबंधी पाप' अर्थात् ऐसा पापकर्म उदय में आ रहा है, जिसके उदय में रहते हुए जीव पुनः पाप का ही बंध कर रहा है। जैसे कोई व्यक्ति पापकर्म के उदय से नीच कुल में उत्पन्न हुआ है, दरिद्र है, दीन है, विकलांग है, उसे बुरी संगति मिली है, उसके पास कोई साधन-सामग्री नहीं है। वह भीख माँगता है अथवा अन्य निकृष्ट कार्य कर रहा है। भिक्षावृत्ति करते हुए भी वह निंदनीय कार्य करता है। ऐसा व्यक्ति पाप के उदय से म्लेच्छ वा निशाचर हुआ, किन्तु फिर भी वह पाप का कार्य ही कर रहा है।

रात्रि में भक्षण कर रहा है, मादक पदार्थों का सेवन कर रहा है, मांस आदि अन्य गंदी वस्तुओं का सेवन करता है, दूसरों के विषय में बुरा सोचता है, बुरा बोलता है और बुरा करता है। इस प्रकार पाप के उदय में वह शरीर से भी दुष्कर्म कर रहा है, वचनों से भी अच्छे वचन न बोलकर अपशब्दों द्वारा दूसरों का तिरस्कार व अपमान करता है। मन के माध्यम से अच्छा चिंतन कर सकता था, किन्तु वह ऐसा

न करके बुरा ही सोच रहा है। इसका व्यापार नष्ट हो जाए, इसकी फसल में आग लग जाए, इसका पैसा मारा जाए, यह भी मेरी तरह भीख माँगे, परेशान होवे–यदि वह अपनी परेशानी में भी दूसरों के लिए ऐसा सोचता है, तो वह पाप का फल भोगते हुए भी पुनः पाप का ही बंध कर रहा है।

ऐसे कितने ही व्यक्ति हैं, जो पाप के उदय में पाप का बंध कर रहे हैं। वे चाहें तो प्रभु परमात्मा का नाम ले सकते हैं, किसी जीव के प्रति करुणा का भाव रख सकते हैं, किन्तु ऐसा नहीं करके वे पाप ही करते रहते हैं। यही 'पापानुबंधी पाप' है अर्थात् पाप के उदय में पाप का बंध करना।

दूसरा है **''पापानुबंधी पुण्य''** संसार में ऐसे भी बहुत से व्यक्ति हैं, जो पुण्य का उदय होते हुए भी पाप का बंध कर रहे हैं। पूर्व पुण्य के उदय से संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य बने, अच्छे कुल में जन्म लिया, अच्छी संगति मिली, सम्मान योग्य पद प्राप्त हुआ, और लोगों ने भी उन्हें नेता बना दिया। किंतु उस पुण्य के उदय में वे पापकार्यों में लिप्त हो गए।

मादक पदार्थों का सेवन करने लगे, गरीबों के प्रति अत्याचार करने लगे, अन्याय करने लगे, वोट के लिए जो नहीं करने चाहिए ऐसे कार्य भी करने लगे, सरकार के टैक्स की चोरी करने लगे, शीलव्रत से च्युत होने लगे अथवा अन्य प्रकार से रिश्वत आदि लेने लगे। इस प्रकार वे पुण्य के उदय में पाप का बंध कर रहे हैं।

पुण्य के उदय से निरोगी शरीर प्राप्त हुआ, सुंदर काया मिली, पद-प्रतिष्ठा सब कुछ मिला, फिर भी संगति गलत हो गई और वे गलत काम करने लगे। ऐसे अनेक व्यक्ति हैं, जो आज पुण्य के उदय में पर्याप्त साधन-सामग्री प्राप्त करके भी उसके माध्यम से पाप का ही बंध कर रहे हैं। यह भी दु:खद है।

तीसरे प्रकार का है ''**पुण्यानुबंधी पाप**''। अर्थात् पाप के उदय में भी पुण्य का बंध कर रहे हैं। पूर्व कर्म के उदय से निर्धन हैं, नीच कुल में जन्म लिया है, विकलांग हैं या बुद्धि भी मंद है; फिर भी वे प्रभु-परमात्मा की भक्ति में लीन हैं, साधुओं की सेवा में संलग्न हैं और तीर्थयात्रा में रत हैं। भजन गाकर वचनों के माध्यम से पुण्य कमा रहे हैं और दूसरों के प्रति अच्छी भावना रखकर मन के माध्यम से भी पुण्य का अर्जन रहे हैं।

भले ही वे गरीब हैं, फिर भी भगवान से कहते हैं-हे भगवन्! यदि मेरे पास धन होता तो मैं अवश्य दान करता, ऊँचे शिखरयुक्त जिनालय बनवाता, जिनबिम्बों की स्थापना करवाता, औषधालय और विद्यालय खुलवाता, गरीबों की सेवा करता तथा पशु-पक्षियों के लिए आवास बनवाता। हे भगवन्! यदि मेरे पास धन होता तो साधुओं के चातुर्मास करवाता और अनेकानेक पुण्य कार्य करता।

ऐसी भावना वह भाता है और यही शुभ भावना उसके पुण्य का कारण है। उसके पास अल्पधन है, अधिक कुछ नहीं कर सकता, फिर भी अपनी करुणा और दया

के माध्यम से यथाशक्ति पुण्य करता है। गर्मी में प्यासे पशु-पक्षियों के लिए परंडा बनाता है और उसमें सुबह-शाम पानी भरकर रखता है, जिससे मूक पशु-पक्षी प्यासे न रहें।

जितना उसके सामर्थ्य मे है उतना वह पुण्य कार्य करता है। वह सोचता है-मैं हजारों-लाखों की बोलियाँ तो नहीं ले सकता, किन्तु मुट्ठी भर चुग्गा तो पक्षियों को डाल ही सकता हूँ। सुबह-सुबह यदि चुग्गा डाल दिया तो पक्षियों का समूह आएगा, दाना चुगेगा और उनका पेट भर जाएगा। अन्यथा वे पक्षी अनाज के अभाव में भूख के कारण कीड़े-मकोड़े खाते। आपके द्वारा दाना डालने से उन्होंने कीड़े-मकोड़ों को नहीं खाया-सोचिए, कितने जीवों की रक्षा हो गई।

कोई करुणा दान के माध्यम से घायल पशु-पक्षियों की सेवा करे अथवा मूक जीवों के लिए जो भी सहायता आपसे बन पड़े वह करें। अल्पधन से किया गया ऐसा छोटा-सा कार्य भी बड़े पुण्य का कारण बन सकता है।

महानुभाव! पाप के उदय से भले ही दीन-हीन अवस्था प्राप्त हुई हो, किन्तु इसके बावजूद अपने पास उपलब्ध धन-साधन, वचन और शरीर के माध्यम से पुण्य कार्य करना **'पुण्यानुबंधी पाप'** की श्रेणी में आता है। बात साधन-सामग्री की नहीं है कि हमारे पास कम है, इसलिए पुण्य नहीं कर सकते, महत्व इस बात का है कि हमारी भावना कितनी बड़ी व श्रेष्ठ है।

श्रेष्ठ भावना अभाव में भी पुण्य का बंध कराने वाली होती है। धन न सही, हमारे पास वचन तो हैं। वचनों के

माध्यम से हम बच्चों को महामंत्र याद करा सकते हैं। सम्यग्ज्ञान की बातें सिखा सकते हैं, भगवान के नाम याद करा सकते हैं। कोई दादा-दादी वृद्ध हैं तो उन्हें तत्त्वार्थसूत्र, सहस्रनाम आदि का पाठ सुना सकते हैं, स्वाध्याय करा सकते हैं अथवा अन्य भी अच्छे कार्यों में सहयोग कर सकते हैं। इस प्रकार वचनों के माध्यम से भी पुण्य कमाया जा सकता है।

शरीर के माध्यम से जितना हो सके उतनी दूसरों की सहायता कर रहे हैं। तन के द्वारा जीवदया और जीवों का रक्षण करके पुण्य कमा रहे हैं। शुभ भावों के द्वारा मन से भी पुण्य कमाया जा सकता है, वचनों से भी पुण्य कमाया जा सकता है, अपने साधनों से भी पुण्य कमाया जा सकता है और तन के माध्यम से भी पुण्य का अर्जन किया जा सकता है।

पापकर्म के उदय से उसके पास साधन तो नहीं हैं, किन्तु मन, वचन, तन तो हैं। इनके माध्यम से भी यथाशक्ति पुण्य कमाया जा सकता है। इस प्रकार पाप के उदय में पुण्य का बंध हो सकता है, वही 'पुण्यानुबंधी पाप' कहलाता है, अर्थात् पाप के उदय में पुण्य का बंध करने वाला।

अगला है-**'पुण्यानुबंधी पुण्य'** पुण्य के उदय में व्यक्ति ने सब अनुकूलताएँ प्राप्त की और उन अनुकूलताओं का सदुपयोग करते हुए पुनः पुण्य का बंध किया-यह पुण्यानुबंधी पुण्य कहलाता है।

व्यक्ति कहता है-''महाराज जी! आपके आशीर्वाद और भगवान की कृपा से हमारे पास सब साधन-सामग्री है। हम

बस यही चाहते हैं कि हमारे एक भी पैसे का दुरुपयोग न हो, हमारा सारा धन सदैव अच्छे कार्यों में लगे। आप हमें ऐसा आशीर्वाद दीजिए कि हम इसे पुण्य कार्यों में ही लगाते रहें और आप हमें पुण्य के कार्य बताते रहें।

महानुभाव! वह व्यक्ति पुण्य एकत्र करना चाहता है। वह कहता है–''मैं पुण्य के माध्यम से पुण्य बढ़ाना चाहता हूँ।'' वह पुण्य का संग्रह करके दुर्गति का नाश कर रहा है और सुगति का बंध कर रहा है। ऐसे पुण्यात्मा जीव आज भी हैं, जो अपने धन को जोड़-जोड़कर तिजोरियों में नहीं रखते, अपितु अपने धन का सदुपयोग कर रहे हैं। आपको सुनकर आश्चर्य होगा कि दान के क्षेत्र में एक अग्रणी व्यक्ति जो अपनी कमाई का 1 या 2 प्रतिशत नहीं, 18-21 प्रतिशत भी नहीं, 25-50 प्रतिशत भी नहीं, यहाँ तक कि 65-70 प्रतिशत भी नहीं बल्कि 75 प्रतिशत दान करने का नियम रखता था। वह ईमानदारी से कमाता और अपनी कमाई का 75 प्रतिशत दान कर देता था।

वह कहता था–''भगवान् के आशीर्वाद से मेरे पास सब कुछ है। पत्नी, पुत्र-पुत्री, माँ-बाप–सबके लिए पर्याप्त है, फिर धन को केवल जोड़कर रखने से क्या होगा? इस संसार में ऐसा कौन हुआ, जो अपनी संपत्ति अपने साथ लेकर गया हो? न भरत चक्रवर्ती, न रावण, न कंस, न कौरव और न सिकन्दर; सभी यहीं छोड़कर चले गए।

मैं अपनी संपत्ति से पुण्य कमाऊँगा। औषधालय, स्कूल, कॉलेज, गौशाला आदि स्थानों पर भरपूर दान दूँगा। वह

गुप्त रूप से दान करता है; मुक्त हाथों से दान करता है और अपने पुण्य-कोष को भरता है। बिना नाम की चाह और बिना यश-पद एवं प्रतिष्ठा की आकांक्षा के वह सब प्रकार से दान करता है। कोई पूछे कि ऐसे दान करने वाला व्यक्ति कौन है, तो बस यही कहता है–

देनहार कोई और है, देवत है दिन रैन।
लोग भरम हम पर करें, तासों नीचे नैन।।

एक बार किसी दाता से पूछा गया–दान देकर भी आपकी निगाह नीची क्यों रहती है? व्यक्ति दान देकर तो अपना सीना चौड़ा करता है। मंदिर में पंखा भी दान करे तो यदि उसमें तीन पंखुडियाँ हैं, तो तीनों पर अपनी तीन पीढ़ियों के नाम लिखवा देता है। आपने तो इतनी बड़ी-बड़ी धर्मशालाएँ बनवाईं, किंतु कहीं आपके नाम का एक पत्थर तक नहीं; मंदिर बनवाया, वहाँ भी कहीं आपका नाम नहीं। वह कहता है–भैया! मैं नहीं दे रहा, तीन लोक के नाथ दे रहे हैं। मेरा तो कुछ भी नहीं है। देने वाला पारसनाथ और लेने वाला भी पारसनाथ। भगवान की कृपा से पुण्य का उदय हुआ तो पुण्य कार्य कर लिया।

आप सभी उच्च कुल में उत्पन्न हुए हैं, अच्छे संस्कारों से पल्लवित हैं, यदि आपके जीवन में अच्छे संस्कार फलित हो रहे हैं, शुभ निमित्त प्राप्त हैं, तो धर्म के माध्यम से अपने जीवन को पुण्य से भरते रहें। तीर्थयात्रा, दान, भक्ति आदि के माध्यम से निरंतर पुण्य कार्य में संलग्न रहें।

पद्मपुराण जी में आचार्य भगवन् रविषेण स्वामी जी ने 14वें पर्व के 282वें श्लोक में लिखा है–

अवाप्य यो मतं जैनं नियमेष्ववतिष्ठते।
अशेषकिल्विषं दग्ध्वा सुस्थानं सोऽधिगच्छति।।

जो जैनमत और जैन कुल को प्राप्त करके व्रत, नियम और संयम को ग्रहण करता है, वह अपने जीवन में भले ही छोटे-छोटे नियम ले–जैसे ''मैं जीवन में कभी मद्यपान नहीं करूँगा और इस नियम पर अटल रहूँगा, किसी भी कुसंगति पड़कर अपने नियम को नहीं तोड़ूँगा। मैं मांस, मधु, अंडा अथवा नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूँगा। जीवन में कभी रात्रि में भोजन नहीं करूँगा और रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग रखूँगा। इसी प्रकार अनंतकायिक जीव जिस जमीकंद में रहते हैं, उन जमीकंदों का मैं बुद्धिपूर्वक गुरु व प्रभु की साक्षी में सर्वदा के लिए त्याग करता हूँ। मैं नियम लेता हूँ–दिन में कम से कम एक बार तो सामायिक अवश्य करूँगा। इस प्रकार कोई न कोई नियम अवश्य लें, क्योंकि नियम की पगडंडी आपको मोक्षमार्ग पर पहुँचा देगी।

आचार्य भगवन् कह रहे हैं–जो व्यक्ति नियम को ग्रहण कर अपने नियम में पक्का रहता है, पुरुरवा भील या खदिरसार भील की तरह से कौए के माँस का भी त्याग करता है, यमपाल चाण्डाल की तरह से चतुर्दशी पर्व के दिन जीवघात का त्याग करता है, मृगसेन धीवर की तरह से पहली मछली; जो जाल में फँसेगी उसको अभयदान देता

है अर्थात् उसकी हिंसा का त्याग करता है, वह भी महान पुण्य को प्राप्त करता है।

आपने कहानी सुनी होगी–सागरसेन ने रात्रिभोजन का त्याग किया था। वह कुसंगति में पड़कर चोर बन गया और चोरों के समूह में रहकर चोरी करने लगा। एक दिन उसने बहुत बड़ी चोरी की। उस चोरी को देखकर सभी चोरों के मन में यही पाप भाव आया कि यदि मैं अपने साथियों को मार दूँ, तो पूरा धन मेरे अकेले का हो जाएगा।'' सब अपने-अपने मन में एक-दूसरे के प्रति पाप की भावना रखने लगे।

एक रसोइया भी उनके समूह में था। उसने चुपचाप पूरे भोजन में जहर मिला दिया। रात्रि में सभी भोजन के लिए बैठे। संयोग की बात सभी ने मिलकर उस रसोइये को भी साथ में ही भोजन करने के लिए बैठा लिया। पुनः सागरसेन से भी कहा–''चलो, बैठो, तुम भी भोजन करो।'' किन्तु सागरसेन ने कहा–''भाई! मेरा तो रात्रि में पानी पीने तक का त्याग है, भोजन तो दूर की बात है।'' सबने कहा–ऐसा कैसा त्याग है? चोरों के भी कोई नियम होते हैं क्या?

वह बोला–हाँ भाई, मेरा तो यह नियम है। मैंने मुनिराज के मुख से सुना था कि एक चोर ने झूठ बोलने का त्याग किया था। उस नियम को दृढ़ता से पालन कर उसे इस भव में राजा का वैभव मिला और आगामी भव में स्वर्ग का वैभव प्राप्त हुआ। इसलिए चोर होते हुए भी मेरा नियम है कि मैं रात्रि में अन्न तो क्या, जल भी ग्रहण नहीं करूँगा।

हाँ, प्रातःकाल होते ही जो कहोगे, वह ग्रहण कर लूँगा, किन्तु रात्रि में नहीं।

सभी ने उसे पकड़ लिया–"भाई! हम तो तुम्हें भोजन खिलाकर ही रहेंगे। उसने कहा–"तुम सब भले ही मिलकर मेरा गला घोंट दो, किन्तु मैं रात्रि में एक बूँद जल भी ग्रहण नहीं करूँगा।

सागरसेन ने दृढ़ता पूर्वक अपने नियम का पालन किया और सबको धक्का देकर दूर भाग गया। सब चोरों ने भोजन किया। परिणाम यह हुआ कि ज्यों ही भोजन सबके मुँह में गया, सब वहीं चक्कर खाकर ढेर हो गए और सभी के प्राण पखेरू उड़ गए। सारा धन वहीं की वहीं धरा रह गया।

यह सब देख सागरसेन ने सोचा–"एक नियम ने मुझे बचा लिया, अब मुझे इस धन से कोई प्रयोजन नहीं है। जिन मुनिराज ने उसे यह नियम दिया था, वह उन मुनिराज के पास गया और सारा वृत्तान्त कह सुनाया। कहने लगा–हे भगवन्! आप मेरा कल्याण कर दो। मुनिराज ने कहा–भो वत्स! कल्याण का मार्ग तो यही है–

परिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं।

201 (प्र.सा.)

यदि दुःखों से बचना चाहते हो तो सब छोड़कर यथाजात दिगम्बर बन जाओ। सागरसेन ने यही किया। वह भी अंजन चोर की तरह मुनि बन गया। अंजन चोर तो मोक्ष को प्राप्त हुआ, किन्तु सागरसेन ने उच्च अवस्था को प्राप्त किया।

महानुभाव! एक छोटा-सा नियम ग्रहण करके भी यदि आप उसमें स्थिर रहते हैं, तो कल्याण के पात्र बन सकते हैं। इसीलिए सदैव ध्यान रखना–नियम सदा देव-शास्त्र-गुरु की साक्षी में लिए जाएँ। भगवान् आज साक्षात् हमारे समक्ष वर्तमान नहीं हैं, मूर्ति के सामने खड़े होकर नियम लेना उचित नहीं है। शास्त्र बोलते नहीं, इसलिए गुरुओं के सामने नियम लो; अपने मन से नियम मत लो। मनमानी से कोई भी नियम नहीं लिया जाता, गुरु की साक्षी में ही व्रत लिया जाता है।

वरना कोई भी आकर कह दे कि चाहे कुछ भी हो जाए, मैं भले ही मर जाऊँ पर उससे क्षमा नहीं माँगूँगा, ये मेरा नियम है। चाहे कुछ भी हो जाए, मृत्यु शय्या पर भी आ जाऊँ, पर मंदिर दर्शन करने नहीं जाऊँगा। चाहे कुछ भी हो जाए, मेरा नियम चल रहा है कि बारह वर्ष से जो कटुता कर रहा हूँ, उसे मैं छोड़ूँगा नहीं। तो ये नियम नहीं है, ये तो पाप है।

नियम वे कहलाते हैं जो नियमतः उस व्यक्ति की यम से भी रक्षा करें, मृत्यु से भी रक्षा करें और पाप से भी रक्षा करें–वे ही सच्चे नियम कहलाते हैं। अहिंसा आदि महाव्रत यम कहलाते हैं।

महानुभाव! आचार्य महाराज कह रहे हैं–'नियमेषु अवतिष्ठते' जो अपने नियम में स्थिर रहता है, किसी भी परिस्थिति में नियम को भंग नहीं करता। 'अशेषं

किल्विषं दग्ध्वा' वह अपने नियम रूपी मंद अग्नि में, यम रूपी महाअग्नि में सम्पूर्ण पापों को जलाकर 'सुस्थानं सोऽधिगच्छति' नियम से श्रेष्ठ स्थान को, सुगति को और परम्परा से मोक्ष को प्राप्त करता है।

उसे राजा, अधिराजा, महाराजा, अर्धमण्डलेश्वर, मण्डलेश्वर, महामण्डलेश्वर, चक्रवर्ती आदि की विभूति प्राप्त होती है। वह सामानिक देव, महर्द्धिक देव, प्रतीन्द्र देव, उत्तरेन्द्र, दक्षिणेन्द्र, लोकपाल, कुबेर आदि की विभूतियों से सुशोभित होता है। इतना ही नहीं, परम्परा से मोक्ष तक प्राप्त करता है।

महानुभाव! इसलिए आप सभी भी अपनी शक्ति के अनुसार कोई-न-कोई नियम अवश्य लें। वह नियमरूपी नौका आपको संसार-सागर से पार कर देगी। आप अनंत संसार में परिभ्रमण नहीं करेंगे। आपके प्रति सद्भावना रखता हूँ कि आपके नियम, यम रूप में परिवर्तित हों; आपके नियम बढ़ते चले जाएँ, आप एक दिन मोक्षमार्गी बनकर मोक्ष को प्राप्त करने वाले हों–इन्हीं सद्भावनाओं के साथ–

॥ श्री शान्तिनाथ भगवान की जय ॥

आत्मानुघाती-असंयम

महानुभाव! कई बार विचार करते हैं—आखिर ऐसा कौन-सा कारण है कि अनंतकाल बीत जाने के उपरांत भी हम अपने भव-भ्रमण को समाप्त नहीं कर सके? कभी-न-कभी तो हमें इन दु:खों से मुक्ति मिलनी चाहिए। अनेक बार पुरुषार्थ भी किया होगा, फिर भी स्थिति नहीं बदली।

दु:ख हमारा स्वभाव नहीं है, हम दु:ख नहीं चाहते, फिर भी दु:ख हमारे पास अनपेक्षित आ जाता है। कहते हैं—बिना बुलाया मेहमान ज्यादा दिन तक नहीं ठहरता है, किन्तु ये दु:ख तो बिना बुलाया मेहमान है, जो अनादिकाल से साथ लगा हुआ है और ऐसे आकर हमारी आत्मा में बैठ गया है, जैसे हमारी आत्मा पर इसका ही मूलत: अधिकार हो।

जबकि सत्य यह है कि हमारी आत्मा का स्वभाव अनंत सुख है। अज्ञान हमारी आत्मा पर ऐसे सवार हो गया है, मानो आत्मा को घोड़ा बनाकर वही उसे दौड़ा रहा हो। हमारी आत्मा का स्वभाव अनंत ज्ञान है किंतु प्राप्त करने का पुरुषार्थ करने पर भी वह हमें प्राप्त नहीं हो रहा। अनंत शक्ति भी हमारी आत्मा का स्वभाव है, पर वह हमें प्राप्त नहीं हो पा रही है।

हमने शरीर को पुष्ट करने के लिए कितना कुछ किया! कितने ही उत्तम-उत्तम पदार्थों का भोग किया, किन्तु फिर

भी आत्मा पुष्ट नहीं हो पाई; हमारी अनंत शक्ति हमें प्राप्त नहीं हुई। लोगों ने बहुत योग किया, प्राणायाम किया, व्यायाम किया, पौष्टिक भोजन किया, कसरत की; फिर भी अनंत-शक्ति प्राप्त नहीं हुई। जैसे अनेक डिग्रियाँ प्राप्त करके भी कोई केवलज्ञानी, अनंतज्ञानी, सर्वज्ञ नहीं बना। अनेकों पुस्तकों को पढ़कर, अनेक विषयों पर पी.एच.डी. या डी.लिट् भी की, किन्तु फिर भी वे अवधिज्ञान तक प्राप्त नहीं कर पाए। निमित्तज्ञानी नहीं बना, श्रुतज्ञानी नहीं बना, मनःपर्ययज्ञानी नहीं बना। इससे सिद्ध होता है कि मात्र बाह्यज्ञान आत्मस्वभाव की प्राप्ति का कारण नहीं है।

महानुभाव! अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य—ये हमारी आत्मा के स्वभाव हैं। विडम्बना यह है कि जो हमारा स्वभाव है, उसे हम प्राप्त नहीं कर पाए और जो हमारा स्वभाव नहीं है, वह अनादिकाल से हमारी आत्मा पर ऐसा कब्जा करके बैठा है कि उसके चंगुल से हम मुक्त नहीं हो पा रहे हैं।

जैसे कुछ समय पूर्व भारत में बंधुआ मजदूरी की प्रथा थी। पीढ़ी-दर-पीढ़ी गुलामी और बंधन रहता था। व्यक्ति उनके यहाँ नौकरी किए जा रहा है, रात-दिन मेहनत कर रहा है, फिर भी कर्ज चुक नहीं रहा। कर्ज में ही जन्म लिया, कर्ज में ही मर गया। ऐसी ही दशा हमारी आत्मा की है। एक बार नहीं, अनंत बार यह आत्मा इन कर्मों के भार से दबी पड़ी है। इन्हीं कर्मों के बीच जन्म लेती है

और इन्हीं के बीच मर जाती है। जन्म बदलते गए, पर्यायें बदलती गईं, किंतु कर्मों की गुलामी नहीं बदली। हम भी मानो इन कर्मों के बंधुआ मजदूर बने हुए हैं, इनसे मुक्त नहीं हो पा रहे हैं।

कितना चुकाएँ–कितना चुकाएँ! अनंत जन्म व्यतीत कर दिए, फिर भी इन कर्मों का कर्ज चुक नहीं पा रहा है। जन्मों की संख्या बढ़ती गई, लेकिन कर्मों का हिसाब समाप्त नहीं हुआ। यह बड़े आश्चर्य की बात है।

महानुभाव! किसी ने पूछा–इस अनंत संसार को आप क्या कहते हैं? अनंतकाल हो गया, यह बात हास्यास्पद लगती है। ऐसा कैसे हो गया? कभी-न-कभी तो हमारा मोक्ष हो जाना चाहिए। लगता है हम अनंतकाल से संसार में नहीं हैं, हमने अनंत बार जन्म-मरण नहीं किया। यदि किया होता तो हम अभी तक मोक्ष को प्राप्त कर चुके होते। हमने कहा–भैया! एक बात बताओ। एक चींटी साइकिल की रिम अर्थात् परिधि पर चढ़कर लगातार चक्कर लगा रही है। बताओ, वह कितनी देर में उस साइकिल के पहिए के एक्सल अर्थात् केन्द्र तक पहुँच जाएगी? कितने सैकंड में, कितने मिनटों में या कितने घंटे में? आप सोच समझकर, अपना गणित लगाकर बताओ। वह बोला–क्या वह चींटी ऐसे ही चक्कर लगाती रहेगी? हमने कहा–हाँ, चक्कर तो ऐसे ही लगाती रहेगी। वह अपनी गति तो बढ़ा सकती है, किन्तु दिशा नहीं बदल सकती।

वह बोला–तब तो वह चींटी कभी भी केन्द्र तक नहीं पहुँच पाएगी। मिनट–घंटे तो क्या जीवन भर भी उसी रिम पर घूमती रहे, बार–बार चींटी–अवस्था में जन्म ले और हजारों–लाखों चक्कर लगाती रहे, तब भी एक्सल अर्थात् धुरी तक नहीं पहुँच पाएगी, क्योंकि उसकी दिशा ही गलत है।

बस! आपको अपना उत्तर मिल गया। जब हम गलत दिशा में चलते हैं, तो कभी भी सही मंजिल तक नहीं पहुँचते हैं। जिस प्रकार वह चींटी परिधि पर निरंतर घूमते रहने के बाद भी अपने केन्द्र तक नहीं पहुँच सकती, उसी प्रकार हम भी अनादिकाल से पुद्‌गलों के पीछे दौड़ रहे हैं, पागल बने हुए हैं। आत्मा की ओर हमारा उपयोग ही नहीं है। जो आत्मा का गुण–धर्म व स्वभाव है, उसकी ओर हमारा उपयोग नहीं है, हमारी दिशा ही गलत है। गलत दिशा में हम चाहे मंद गति से चलें, मन्दतर–मन्दतम गति से चलें, अथवा तीव्र, तीव्रतर व तीव्रतम गति से चलें–जब दिशा ही गलत है तो मंजिल तक कैसे पहुँचेंगे?

महानुभाव! संसार में भ्रमण कराने के तीन कारण हैं और मूल में कहें तो एक ही कारण है। वे तीन कारण हैं–मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम। और तीनों को यदि एक शब्द में कहें तो वह है–मोह। यह मोहनीय कर्म इस जीव को संसार में अनादिकाल से भ्रमण करा रहा है। यदि मोह को नहीं छोड़ा तो यह भ्रमण अनंतकाल तक चलता रहेगा।

मोह के भी दो भेद हैं–दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। सम्यक्त्व के आते ही दर्शनमोह चला जाता है। सम्यक्त्व के आते ही ज्ञान भी सम्यक् हो जाता है, क्योंकि सम्यक्त्व के साथ रहने वाला ज्ञान अविनाभावी रूप से सम्यग्ज्ञान ही होता है। अतः मोह में ही मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम– ये तीनों समाहित हैं।

महानुभाव! जहाँ असंयम और अज्ञान है, वहाँ मिथ्यात्व पुष्ट हो जाता है। असंयम व अज्ञान मिथ्यात्व की पुष्टि करता है और संयम, सम्यक्त्व व सम्यग्ज्ञान की पुष्टि करता है। मिथ्यात्व के साथ अज्ञान तो नियम से रहता ही है। वह तो परछाई की तरह से है, परछाई भले ही प्रकाश में लुप्त हो जाए, किन्तु मिथ्यात्व व अज्ञान एक क्षण के लिए भी अलग नहीं होते। सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान भी एक साथ रहते हैं; एक क्षण के लिए भी दोनों अलग नहीं हो सकते किन्तु सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान संयम के लिए प्रेरक निमित्त हैं। मिथ्यात्व और अज्ञान असंयम के लिए प्रेरक निमित्त हैं। यदि सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान को प्राप्त भी कर लिया, किन्तु संयम को प्राप्त नहीं किया तो भव-भ्रमण मिटेगा नहीं। संयम के साथ तप और तप के साथ ध्यान–यही कर्मों के क्षय का कारण है। इनके बिना कर्मों का क्षय संभव नहीं है।

संयम कहो या संवर तत्त्व कहो, तप कहो या निर्जरा तत्त्व कहो–तप के साथ भी ध्यान है और संयम के साथ

भी ध्यान है। वही प्रशस्त ध्यान पूर्वबद्ध कर्मों के ईंधन को जलाकर के राख कर देता है और आत्मा को कुंदन की तरह शुद्ध कर देता है। ध्यान की अग्नि में तपकर आत्मा परिशुद्ध हो जाती है।

महानुभाव! यह असंयम, मिथ्यात्व और अज्ञान का बिछड़ा हुआ भाई है। कई बार ये सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान के साथ भी आकर खड़ा हो जाता है और पुनः उन्हें फुसलाता है। कहता है–"अरे! क्या रखा है सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में? अरे! आराम से खाओ-पीओ, मस्ती करो।" और कहीं उस असंयम की बात में सम्यक्त्व व सम्यग्ज्ञान आ गया तो पुनः वह जीव सम्यक्त्व से च्युत हो जाता है।

और इसके विपरीत यदि वह संयम के साथ, संयमी के पास रहे तो उसके जीवन में सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होने के अवसर अधिक होते हैं और वह उन्हें प्राप्त भी कर लेता है। प्राप्त कर लिया तो उनके बीच में रहकर वह सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान में स्थिरता को प्राप्त कर लेता है। इतना ही नहीं, संयम और संयमी की संगति सम्यग्दृष्टि को संयमी भी बना देती है, वह संयम तक भी पहुँच जाता है।

जैसे एक छोटा बालक माँ की अँगुलि पकड़कर धीरे-धीरे चलता है। दोनों पैर तो उसके पास जन्म से ही थे, किन्तु चलने के लिए सहारे की आवश्यकता थी। पहले वह माँ की अँगुलि पकड़कर थोड़ा-थोड़ा चला, यानि देशव्रती बना, सदाचार के सम्मुख हुआ, पुनः तीन पहिए की गाड़ी प्राप्त

की, उस पर हाथ रखा, गाड़ी थोड़ी आगे चलती है और वह भी लड़खड़ाते पैरों से आगे चलता है। शनैः-शनैः वह गाड़ी भी छूट जाती है। व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से आगे बढ़कर के वह निश्चय रूप आत्मा में लीन हो जाता है। फिर तीन पहिए की गाड़ी की भी आवश्यकता नहीं।

आचार्य भगवन् सोमदेवसूरी यशस्तिलकचम्पू के उपासकाध्ययन में असंयम के सम्बन्ध में कहते हैं कि यह असंयम ही संसार है। जहाँ तक असंयम है, वहाँ तक संसार से पार नहीं हो सकते। असंयम के साथ रहकर पूरे मोह का भी नाश संभव नहीं है। अतः असंयम को छोड़ो, संयम को प्राप्त करो। संयम से ही मोहनीय कर्म का क्षय होता है, संयम से ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्म का क्षय होता है तथा संयम से ही चार अघातिया कर्मों का क्षय होता है। आचार्य महोदय ने असंयम के लिए कहा-

अव्रतित्वं प्रमादित्वं निर्दयत्वमतृप्तता।
इन्द्रियेच्छानुवर्तित्वं सन्तः प्राहुरसंयमम्।। 117 (य.चं.)

संतजन, साधुपुरुष, केवली भगवान, सर्वज्ञ देव, गणधर परमेष्ठी व ऋषि-मुनि, यति, अनगार, भदंत-सभी कहते हैं कि यह संयम ही संसार का तारक है। यह संयम नौका की तरह है, किन्तु असंयम तो दुःख का मूल है। अतः उस असंयम से बचो।

पहली बात कही **'अव्रतित्वं'** अर्थात् अव्रतपना। व्रत क्या है? **'हिंसाऽनृतस्तेया-ब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्'**

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह—इन पाँच पापों से विरक्ति का नाम व्रत है। इन पाँच पापों में आसक्ति का नाम अव्रत है। जब तक अंतरंग में अव्रतपना है, तब तक संयम आ नहीं सकता। जब तक असंयम से प्रीति है, तब तक संयम कैसे आएगा?

जब तक आप दुष्टजनों से मित्रता कर रहे हैं, तब तक शिष्टजन आपके पास क्यों आएँगे? आपके यहाँ जब शिष्ट पुरुषों का सम्मान ही नहीं है, उनकी उपेक्षा करते हैं, उनका अपमान व तिरस्कार करते हैं, तो वे शिष्टजन-सज्जन क्यों आएँगे? इसी प्रकार अव्रतपना असंयम है; अतः उसे छोड़ो।

और यदि अव्रतपना एक साथ नहीं छोड़ सकते तो शनैः-शनैः छोड़ो। पहले हिंसा का त्याग करो, पूर्णतः उसका त्याग नहीं कर सकते तो स्थूल रूप से हिंसा का त्याग करो। वह भी नहीं कर सकते तो और लघुरूप में करो। यदि किसी ने शिकार का त्याग कर दिया, मात्र एक नियम लिया, तो वह उस एक नियम के माध्यम से भी बहुत आगे बढ़ गया। यदि किसी ने शराब का त्याग कर दिया, उससे भी वह बहुत आगे बढ़ता चला गया। किन्तु त्याग-संकल्प दृढ़ हो। मार्ग में कितनी भी प्रतिकूलता आ जाए, वह उस नियम-व्रत को तोड़े नहीं। यहाँ तक कि किसी ने केवल कौए के माँस का भी त्याग कर दिया, तो वह भी एक नियम से अनेक नियमों को प्राप्त करता हुआ बहुत आगे पहुँच गया।

यदि किसी ने जीवन में एक अहिंसा–अणुव्रत का नियम लिया, तो उसके उस एक नियम की भी परीक्षा हुई। वह परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ, उसे प्रमाण–पत्र मिला, उसकी प्रशंसा हुई, देवों ने भी आकर उसका मान–सम्मान किया। और यदि एक साथ पाँचों ही अणुव्रतों को ग्रहण कर लें तो बहुत ही अच्छी बात है। उसके साथ तीन गुणव्रत हैं, चार शिक्षाव्रत हैं, उनका भी पालन करो। श्रावक के ये बारह व्रत होते हैं। ये अणुरूप में होते हैं, इसलिए इन्हें देशव्रत या अणुव्रत कहते हैं।

श्रमण के पाँच महाव्रत होते हैं। वे हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का पूर्णतः त्याग करते हैं। अतः अव्रतपना असंयम है और व्रतपना संयम है।

कुछ सुधारवादी, दीर्घ संसारी, जिन्हें पापों से डर नहीं लगता, जिन्हें पाप प्रिय होते हैं, वे क्या कहते हैं? ''अरे! आज कोई भी व्रतों का निर्दोष पालन नहीं करता, इसीलिए हम तो व्रतों का पालन ही नहीं करते।'' क्या होता है वस्त्र उतारने से? कौन मुनि बन गए? क्या होता है व्रती–प्रतिमाधारी बनने से? उनका काम सिर्फ दूसरों की निंदा–आलोचना करना ही रह गया है। उन्हें दुर्गति से डर नहीं लगता। जिनशास्त्रों में कहा है कि यदि कौए के माँस का भी त्याग किया है, तब भी प्रशंसा के योग्य है। यदि पाँच अणुव्रतों में से एक भी लिया है, तब भी प्रशंसा के योग्य है, तब भी देवों के द्वारा पूज्य है।

ध्यान रखना, चाहे चौथा काल हो या पाँचवा, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन में दोष पहले भी लगते थे, आज भी लगते हैं और आगे भी लगते रहेंगे। उपशम सम्यग्दर्शन अन्तर्मुहूर्त का होता है, छूट जाता है। क्षायिक सम्यग्दर्शन एक बार हो जाता है तो छूटता नहीं, वह मोक्ष लेकर जाता है। अतः क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन जब चौथे काल में था, तब भी सदोष था और आज भी यदि है तो उसमें दोष लगेंगे ही लगेंगे। यदि मात्र दोषों से बचना चाहते हो तो मिथ्यात्व में आ जाओगे, सम्यक्त्व ही नहीं बचेगा।

महानुभाव! पाँचवें गुणस्थान का नाम संयमासंयम है। वहाँ क्षायोपशमिक भाव है, नियम से अतिचार लगेंगे ही लगेंगे। छठवें, सातवें गुणस्थान में भी क्षयोपशम भाव है। श्रेणी पर नहीं चढ़े, तो उपशम और क्षायिक भाव नहीं है उस व्रत में भी दोष लगेंगे ही लगेंगे। छेदोपस्थापना और सामायिक चारित्र में दोष लगेंगे।

वे सुधारवादी सिद्धांत का अध्ययन करें, कि क्या होता है छेदोपस्थापना चारित्र? और क्या होता है सामायिक चारित्र। क्योंकि दूसरों को देखने से आत्मा का हित नहीं हो सकता। चार चौपाई, दोहा व श्लोक सुनाने से विद्वान नहीं हो जाते, आत्मा परमात्मा नहीं बन जाती। **दूसरों की निंदा करने वाला व्यक्ति पृथ्वी पर भार है।** वह अपनी आत्मा का तो अकल्याण करता ही है, दूसरों को सम्यक्त्व से, संयम से फुसलाता है तो वह निश्चित ही महापाप की

कोटि में आ जाता है। अतः कभी भी भूलकर सम्यग्दर्शन की, सम्यग्ज्ञान की व संयम की निंदा-आलोचना मत करो। ये चीजें ऐसी नहीं है कि कहीं खंभे या दीवार पर दिखाई दे जाएँगी। ये आत्मा के धर्म हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। **'न धर्मो धार्मिकैर्विना'** धर्मात्मा के बिना धर्म नहीं होता, अतः धर्मात्मा के प्रति उपेक्षा का भाव धर्म की उपेक्षा है।

मुनिमुद्रा के प्रति यदि उपेक्षा का भाव आ गया तो वह संसार वर्धक भाव है; वह संसार में भ्रमण करना चाहता है। अभव्य मुनि से दीक्षा लेकर कोई भव्यजीव मोक्ष भी जा सकता है। वह अभव्य जीव स्वयं मुनि होकर भले ही मोक्ष न जा पाए; किन्तु उससे दीक्षा लेने वाला मोक्ष जा सकता है। तीर्थंकर से दीक्षा लेने वाला भी यदि अपने आपको न संभाले तो वह भी असंख्यात भव तक संसार में परिभ्रमण कर सकता है।

मारीचि की तरह—जिसने ऋषभदेव के समवसरण में दीक्षा लेकर भी असंख्यात भव धारण किए। और किसी अभव्य मुनि से दीक्षा लेकर भी भव्यजीव मोक्ष गए। अभव्य जीव दीक्षा लेकर के नौवें ग्रैवेयक तक जा सकता है।

महानुभाव! असंयम क्या है? वह है हमारी पाप में आसक्ति। हमने व्रत लिया अथवा नहीं लिया, किन्तु यदि हमारे जीवन में व्रतों का सम्मान नहीं, व्रतों के प्रति आदर का भाव नहीं, व्रती के प्रति विनय-आदर का भाव नहीं,

महाव्रती के प्रति आदर-सम्मान का भाव नहीं, तो समझो हम बहुत दीर्घ संसारी जीव हैं। हम ऐसा करके किसी का कुछ नहीं बिगाड़ रहे हैं, हम सिर्फ अपनी आत्मा का अहित कर रहे हैं। इस आत्मा का अभी कुछ नहीं बिगड़ रहा, क्योंकि कर्म का उदय तत्काल नहीं आता; कालान्तर में आबाधा काल के बाद आता है। जब कर्म का उदय आता है तब समय निकल जाता है। अतः अव्रतीपने से बचो। व्रती न बन पाओ तो कम से कम व्रती का सम्मान करो, महाव्रतियों का सम्मान करो तथा व्रतों की व महाव्रतों की प्रशंसा करो।

हम पुनः आपसे कहते हैं—आज क्षायोपशमिक भाव है, सम्यक्त्व में दोष लगेंगे ही; किन्तु व्रती-महाव्रती दोष लगाएँ नहीं, लग जाएँ तो घबराएँ नहीं। प्रायश्चित्त लेकर व्रतों की, चित्त की शुद्धि करें। सम्यक्त्व से भ्रष्ट हुआ व्यक्ति मोक्ष नहीं जा सकता, चारित्र से च्युत हुआ व्यक्ति आज नहीं तो कल चारित्र को शुद्ध करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

महानुभाव! इसीलिए कहा—संयम के प्रति लगाव, व्रतों के प्रति तथा व्रतियों के प्रति मन में अहोभाव आना चाहिए। पहले मुनिराज के आगमन की सूचना भी सुन लेते थे, तो मीलों तक जैन-अजैन सभी दर्शनार्थ दौड़कर जाते थे। आज क्वचित् ऐसा भी देखने में आता है कि अपने ही जैन श्रावक साधुओं की निंदा करने लगते हैं। कोई त्यागी-व्रती, प्रतिमाधारी होकर भी यदि दिगम्बर वेष की निंदा करने लगे,

तो विचार कीजिए–क्या वह स्वयं अपने जैनत्व पर ही प्रहार नहीं कर रहा? क्या वह उसी जैनधर्म रूपी वृक्ष को काटने का प्रयास नहीं कर रहा, जिसकी छाया में उसका अपना धार्मिक जीवन पल्लवित हुआ है?

किन्तु ध्यान रखना–जैन धर्म अनादिकाल से है और अनंतकाल तक रहेगा। यह धर्मवृक्ष कभी किसी के विरोध अथवा निंदा से धराशायी होने वाला नहीं है। किन्तु ऐसा दु:साहस करने वाला नि:संदेह अपनी आत्मा का अहित अवश्य करेगा। अत: अव्रतभाव असंयम है, अव्रत की प्रशंसा असंयम है, अव्रतियों का सम्मान असंयम है और व्रतों की उपेक्षा भी असंयम है।

अगली बात कह रहे हैं 'प्रमादित्वं' प्रमाद भी असंयम है। किसमें प्रमाद? धर्म के कार्यों में। कहा भी है– **'धर्मकार्येषु अकुशल प्रवृत्ति प्रमाद:'** अरे भाई! मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है, आज अभिषेक नहीं कर पाऊँगा; स्वास्थ्य ठीक नहीं है, इसलिए आज स्वाध्याय नहीं कर पाऊँगा; स्वास्थ्य ठीक नहीं है, इसलिए सामायिक या व्रत-उपवास नहीं कर पाऊँगा। किन्तु आश्चर्य यह है कि निन्दा करने के लिए स्वास्थ्य ठीक है, किसी का अपमान करने के लिए स्वास्थ्य ठीक है, दूसरों को अपशब्द कहने के लिए भी स्वास्थ्य ठीक है। यह समझ में नहीं आता कि धर्मकार्य करने के समय ही स्वास्थ्य क्यों खराब हो जाता है?

स्वाध्याय करने में आँखें कमजोर हैं, किन्तु किसी की बुराई देखने और खोजने में आँखों का जवाब नहीं है। कौन कैसे आहार करता है, कौन कैसे उठता-बैठता है—सब पर हमारी दृष्टि रहती है। लगता है, भगवान ने इन्हें सारे विश्व का विधायक बना दिया है, इन्हें सबकी चिंता है, बस अपनी आत्मा की चिंता नहीं है। यह प्रवृत्ति उचित नहीं है।

अतः धर्मकार्य में प्रमादी मत बनो। धर्म के कार्य करो। हाँ, धर्मकार्य करने में आत्मा को भी कष्ट होगा और शरीर को भी कष्ट होगा, क्योंकि संयम धारण करना पड़ेगा। अपनी मनमानी प्रवृत्तियों को रोकना पड़ेगा, मन के दुष्चिंतन को रोकना पड़ेगा, अशुभ वचनों को रोकना पड़ेगा और असत् क्रियाओं को भी रोकना पड़ेगा। इन सबके नियंत्रण के बिना जीवन में संयम का प्रवेश संभव नहीं है।

संयम का अर्थ है—नियंत्रण। मन कहता है—यहाँ नहीं, वहाँ बैठें; इसे नहीं, उसे देखें। भगवान को निहारने में दो मिनट में दृष्टि तृप्त हो जाती है, किन्तु बुराइयों को घंटो तक टकटकी लगाकर देखने पर भी दृष्टि तृप्त नहीं होती। भगवान के दर्शनों के लिए पैरों में दर्द होने लगता है, ज्यादा देर खड़ा नहीं रहा जा सकता; किन्तु गप्पें हाँकनी हों तो घंटों खड़े रह सकते हैं। पूजा-भक्ति करनी हो तो गले में दर्द होने लगता है, किन्तु कहीं चिल्लाना हो तो गले में दर्द नहीं होता। यह प्रवृत्ति उचित नहीं है। यही प्रमाद है— धर्म कार्यों के प्रति उत्साह का अभाव अर्थात् अनुत्साह होना।

दूसरी बात यह कि प्रमाद भी अपने आप में पाप है। इसके पन्द्रह भेद हैं–चार विकथाएँ, पाँच इंद्रिय विषय, चार कषाय, निद्रा और प्रणय–ये पन्द्रह प्रमाद हैं, ये पाप हैं, असंयम हैं; इसीलिए प्रमाद से बचो।

भगवान् से कहो–हे भगवन्! धर्म कार्यों में मेरा स्वास्थ्य अनुकूल रहे; भले ही पाप कार्यों के समय मैं बीमार पड़ जाऊँ। किसी की प्रशंसा करने में मेरा स्वास्थ्य अनुकूल बना रहे; भले ही किसी की निंदा करने में मैं गूँगा हो जाऊँ। धर्म के शब्द सुनने में मेरे कान ठीक काम करें, भले ही बुराइयाँ सुनने के लिए मेरे कान बहरे हो जाएँ। पाप कार्य करने में मेरे शरीर को लकवा मार जाए, किन्तु पुण्य कार्य करने में मैं सदैव तत्पर रहूँ। शुभ चिंतन करने के लिए मेरा मन सदैव जाग्रत रहे और दुष्चिंतन के समय मेरा मन सोता ही रहे।

हे प्रभु! मैं अपने मन, वचन और काय का सही सदुपयोग कर सकूँ। यदि मैंने यह कर लिया, तो मेरा कल्याण अवश्य हो जाएगा। मैं संसार में किसी अन्य का कल्याण कर सकूँ या न कर सकूँ, किंतु अपनी आत्मा का कल्याण करने का पुरुषार्थ तो अवश्य कर सकता हूँ।

आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी समयसार में कहते हैं कि कर्तृत्व बुद्धि को छोड़ो। 'कर्तृत्व बुद्धि' अर्थात्–मैं किसी का कुछ कर सकता हूँ। यह सबसे बड़ा अज्ञान है।

वस्तुतः कोई किसी के लिए कुछ नहीं कर सकता, प्रत्येक जीव अपने कर्म का फल स्वयं भोगता है।

महानुभाव! द्वारिका नगरी जब आग की लपटों में घिर गई, तब नारायण श्रीकृष्ण भी अपने माता-पिता को बचाने में समर्थ नहीं हो सके। कर्म का उदय तो भगवान् आदिनाथ को भी आया। एक वर्ष एक माह और आठ दिन (13 माह 8 दिन) तक आहार प्राप्त नहीं हुआ। जिनके सौ पुत्र, दो पुत्रियाँ, दो रानियाँ और जिनके गर्भ में आने के छह माह पूर्व से ही देव-देवियाँ सेवा में लग गए थे; रत्नों की वर्षा हो रही थी, नगरी सज रही थी—ऐसे तीर्थंकर ऋषभदेव! जिनके प्रथम पुत्र चक्रवर्ती भरत, जो छहखण्ड के राजा, नवनिधियों और चौदह रत्न के स्वामी थे। बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा जिनके चरणों में प्रणाम करते थे; उनके पिता मुनि अवस्था में तेरह माह आठ दिन तक आहार प्राप्त न कर सके।

इसमें दोष किसका था? नंदा का या सुनंदा का? ब्राह्मी का या सुंदरी का? भरत का या बाहुबली का? अथवा अन्य राजा-रानियों का? नहीं! दोष किसी का नहीं था। भगवान् ऋषभदेव के अपने ही कर्म का उदय था, जिसके कारण उन्हें आहार प्राप्त नहीं हुआ।

भगवान पार्श्वनाथ स्वामी पर कमठ ने ओले-शोले-पत्थर-पानी बरसाकर उपसर्ग किया, तो गलती किसकी? उनके माता-पिता की? या देवों की? या अन्य किसी वन देवता

की कि उसने आकर रक्षा क्यों नहीं की? नहीं किसी अन्य की गलती नहीं थी। कर्म का बंध स्वयं किया था और उसका उदय आने पर फल भी स्वयं को ही भोगना पड़ेगा। जिस जीव ने जो कुछ भी प्राप्त किया–चाहे श्रीपाल जो सात सौ राजाओं के साथ कुष्ठ रोगी हुआ, चाहे किसी को अन्य कोई भी कष्ट प्राप्त हुआ हो, सभी अपने ही कर्म का फल भोगते हैं। जो यह कहते हैं कि–''मैं अपने परिवार को चला रहा हूँ'' वह संसार का सबसे बड़ा मूर्ख है। व्यक्ति कहता है–''मैं नहीं होता तो परिवार भूखा मर जाता।'' यह बहुत बड़ी अज्ञानता है।

आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी जी 'समयसार' में कहते हैं–कर्तृत्व-बुद्धि को छोड़ो। तुम किसी के लिए कुछ भी नहीं कर सकते। अपने लिए भी हमेशा वह नहीं कर पाते जैसा चाहते हो। जब कर्म का तीव्र उदय आता है, तब अपने लिए भी इच्छानुसार नहीं कर पाते, फिर दूसरों के लिए क्या कर पाएँगे? दूसरों के लिए तो कर ही नहीं सकते; हाँ, दूसरा करना चाहे तो अपनी अनुकूलता से किसी को भी निमित्त अवश्य बना सकता है, और न करना चाहे तो कोई उससे करा नहीं सकता।

महानुभाव! कर्तृत्व बुद्धि स्वयं के प्रति एक धोखा है। कोई किसी के लिए कुछ नहीं करता, हम तो केवल निमित्त हैं।

होता स्वयं जगत् परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, सहजानन्द रहूँ अभिराम॥

स्वयं को देखो, स्वयं को सँभालो। अत: अव्रत को छोड़ना है, प्रमाद को छोड़ना है–यही तो संयम है। आगे आचार्य महोदय कह रहे हैं–

''**निर्दयत्वं**'' यदि किसी ने अपमान कर दिया तो उसके प्रति निर्दयता का भाव नहीं आना चाहिए। अज्ञानता में हमसे भी अनेक बार ऐसा हुआ होगा कि अपमान करने वाले के प्रति निर्दयता का भाव आया होगा; अनेक बार शरीर, वचनों और मन से दुष्प्रवृत्ति की होगी। शरीर से खोटी चेष्टा की, मारने का दु:साहस किया, उसके प्रति खोटे वचन बोले और मन में उसके प्रति खोटा चिंतन किया–''इसने मेरे साथ बुरा किया है''–ऐसा मानकर अपने कर्मों का जिम्मेदार सामने वाले को ठहरा दिया। यह नहीं सोचा कि यह मेरे ही कर्म का उदय है। ऐसी प्रवृत्ति ठीक नहीं है; यह प्रवृत्ति भी अज्ञानी की है।

जब भी निर्दयता का भाव आता है, वह अज्ञानता, असंयम और मिथ्यात्व में आता है, ये सब तीव्र मिथ्यात्व के बिना संभव नहीं है। सम्यग्दृष्टि निर्दयी नहीं होता। सम्यग्दृष्टि के चार लक्षण हैं–प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य।

'**प्रशमभाव**' अर्थात् परिणामों की मंदता, '**संवेग**' अर्थात् धर्म, धर्मात्मा और धर्म के फल के प्रति अनुराग का भाव

अनुकम्पा अर्थात् प्राणीमात्र के प्रति दया का भाव तथा **'आस्तिक्य'** अर्थात् अपने अस्तित्व के प्रति श्रद्धा कि मेरी आत्मा भी परमात्मा बन सकती है। किंतु वह मेरे अपने पुरुषार्थ से बनेगी, किसी अन्य के भाग्य अथवा पुरुषार्थ से नहीं।

अतः निर्दयपना भी असंयम है, या यूँ कहें कि असंयम की जड़ है। इसलिए अव्रतभाव, प्रमाद, असंयम और निर्दयता–इन सभी को जड़ से उखाड़कर फेंकना आवश्यक है।

आगे कहा–**'अतृप्तता'** अर्थात् तृप्ति का अभाव। और चाहिए, और चाहिए, और चाहिए...। बहुत कुछ मिल जाने के बाद भी पूर्ण भोग नहीं कर पाते, फिर भी तृप्ति नहीं मिल रही; क्योंकि पुण्य का उदय नहीं है। बाल्यावस्था, युवावस्था तो मात्र एक बार के भोजन में ही व्यतीत कर दी, नसीब में ही नहीं था। प्रौढ़ावस्था तक आते-आते इतना कमाया, इतना कमाया कि घर में हजारों बोरे दाल-अनाज, शक्कर आदि के रखे हैं; किन्तु डॉक्टर ने कह दिया–यदि तुमने चिकनाई ग्रहण की तो कभी भी हार्ट अटैक हो सकता है। दूध पी नहीं सकते; एक कटोरी से अधिक पी लिया तो दस्त लग जाएँगे। मीठा खा नहीं सकते, डायबिटीज बढ़ गई है। ध्यान रखना, यह रोग शरीर का कोई भी अंग भंग कर सकता है। जो मीठा कभी स्वाद था, आज वही आपके लिए जहर बन गया।

घर में नौकर-चाकर मौजमस्ती कर रहे हैं, बाहर वाले, दोस्त-रिश्तेदार सभी के लिए खूब मिष्ठान्न-पकवान बन रहे हैं; किन्तु आपके लिए डॉक्टर ने कह दिया कि सिर्फ मूंग की दाल का पानी; बिना चुपड़ी रोटी खाना है। और जब भी सोना हो तो जमीन पर ही सोना है, डनलप के गद्दे नहीं बिछाना–Disk slip हो सकती है।

अब आप ही बताइए, इसमें दोष किसे देंगे? जब सुख आपके भाग्य में ही नहीं है, तो किसे दोष देंगे? जिसके भाग्य में है, वह भोग रहा है।

कर्महीन को ना मिले, भली वस्तु का योग।
दाख पके पर होत है, काक कण्ठ में रोग॥

यह भाग्य की हीनता है कि भली वस्तुओं का संयोग होने पर भी उनका भोग नहीं कर सकते। देख अवश्य सकते हो; दूसरे भोग रहे हैं, यह देखकर खुश भी हो सकते हो और अपने परिणाम खराब भी कर सकते हो। वस्तु सामने है, साधन उपलब्ध हैं, पर भोगने की सामर्थ्य नहीं–यही अतृप्तता की विडम्बना है। अंगूर जब पकता है तो कौए के कंठ में रोग हो जाता है वह खा नहीं सकता। ठीक इसी प्रकार जीवन में कभी साधन नहीं होते और कभी साधन होते हैं तो सामर्थ्य साथ नहीं देती। अतः प्राप्त वस्तुओं में संतोष करना सीखो; अन्यथा 'और चाहिए' की दौड़ मनुष्य को साधनों के बीच रहकर भी अतृप्त ही बनाए रखती है।

महानुभाव! इसीलिए कहा–**'अतृप्तता'**। चाहे खाकर के व्यक्ति तृप्त होना चाहे, पर तृप्ति खाने में नहीं, त्याग में है। बिना त्याग के कितना भी भोगो, कितनी ही बार भोगो, चाहे अनंत बार भी भोगो, फिर भी तृप्ति नहीं हो सकती। अतृप्तता असंयम है। अतः यहाँ पाँच बातें कहीं–अव्रतिपना, प्रमाद, निर्दयता, अतृप्तता और इंद्रियों के अनुरूप प्रवृत्ति करना।

इंद्रियों ने जैसा कहा, वैसा ही कर लिया। कान ने कहा–कुछ सुनना है, तो मनचाहा सुनने लगे; आँख ने जो देखने को कहा, उसे देखने चले गए; इत्र-फुलेल सूंघने की इच्छा हुई, तो सूंघने लगे; भक्ष्याभक्ष्य का विवेक छोड़कर जो खाने की इच्छा हुई, खाने चले गए। इंद्रियों की इच्छानुसार प्रवृत्ति भी असंयम है। इसलिए इंद्रियों पर भी नियंत्रण करना आवश्यक है। पाँच इंद्रियों और मन पर नियंत्रण करना भी व्रत है। अव्रतिपने से मुक्त हो जाओ। पाँच स्थावर और त्रस इन षट्जीवनिकाय जीवों की रक्षा करना भी व्रत है। अतः बारह अविरति को छोड़कर बारह व्रतों को स्वीकार करो।

आचार्य महोदय कह रहे हैं–इन सबका त्याग करो। हमारे शास्त्रों में कितने दृष्टांत भरे पड़े हैं। चाहे अव्रतिपने के संबंध में ही देखो–कोई हिंसा करके नरक गया, कोई झूठ बोलकर नरक गया, कोई चोरी करके नरक गया, कोई अब्रह्म का सेवन करके नरक गया, कोई परिग्रह का संचय करके नरक गया, कोई इंद्रियों की आसक्ति करके

नरक गया। चाहे वह सुभौम चक्रवर्ती हो या ब्रह्मदत्त आदि राजा रहे हों अथवा महाराजा रहे हों—इतने वैभव को प्राप्त करके भी वे यहाँ भी सुख प्राप्त नहीं कर सके और अंततः नरक में जाकर दुःख के पात्र बने। ये सब असंयम की ही श्रेणी में आता है। चाहे अव्रतिपना हो, प्रमाद हो, निर्दयता हो अथवा इंद्रियों के अनुसार प्रवृत्ति हो—ये सभी दुःख के कारण हैं।

महानुभाव! अपनी आत्मा की शांति के लिए, आत्मा के शुद्ध वेदन के लिए, आत्मिक सुख की प्राप्ति के लिए और आत्मोत्पन्न सुख का अनुभव करने के लिए जीवन में संयम की परम आवश्यकता है। अपने शरीर की चेष्टाओं पर संयम रखो, अपनी वाणी पर संयम रखो, अपने मन के विचारों पर संयम रखो।

यदि आपके विचार आपके नियंत्रण में नहीं हैं तो इसमें दुनिया का कोई दोष नहीं है। यदि आप अपनी जिह्वा पर नियंत्रण नहीं रख पा रहे हो तो इसमें भी दुनिया का दोष नहीं है। यदि आप अपने शरीर की प्रवृत्तियों पर नियंत्रण नहीं रख पा रहे हैं तो दोष दूसरों का नहीं, आपका ही है; और इसका फल भी दुनिया को नहीं, आपको ही मिलेगा। इसी प्रकार यदि आप षट्जीवनिकाय की रक्षा नहीं कर पा रहे, स्थावर व त्रस जीवों की रक्षा नहीं कर पा रहे, तो दोष आपका है। कर्म का बंध आपकी आत्मा में होगा, दूसरों

की आत्मा में नहीं; और उसका फल भी आपकी आत्मा को ही मिलेगा, दूसरों की आत्मा को नहीं।

यदि हम अपनी इंद्रियों पर नियंत्रण नहीं कर रहे हैं, तब भी यह दोष हमारा ही है, दूसरों का नहीं। इस असंयम से वही आत्मा कर्म का बंध करेगी तथा वही कर्म का फल भी भोगेगी।

यः करोति स कर्ता, यः कर्ता स एव भोक्ता।

जो कर्म के बंध का कर्ता है वही कर्म के फल का भोक्ता भी है। जिनशासन में कर्ता और भोक्ता अलग-अलग नहीं हैं। कर्ता-भोक्ता एक ही है।

अत: अपनी आत्मा के कर्ता हम स्वयं हैं और हमारी आत्मा के द्वारा किए गए कर्मों के भोक्ता भी हम स्वयं हैं। अपनी आत्मा के साक्षी भी हम हैं और विरोधी भी हम। हम ही स्वयं के रक्षक और भक्षक हैं, हम ही मित्र है और हम ही शत्रु, अन्य कोई हमारा न शत्रु है, न मित्र। यदि हमारी आत्मा हमारा मित्र है तो पूरी दुनिया हमारी मित्र हो सकती है और यदि हमारी आत्मा ही हमारी शत्रु बन गई, तो पूरी दुनिया हमें शत्रु जैसी दिखाई देती है।

महानुभाव! अपनी आत्मा को समझने के लिए हमें स्वयं ही अपना गुरु बनना चाहिए। कोई किसी का गुरु नहीं, क्योंकि हम अपनी ही बात मानते हैं, दूसरों की नहीं। यह हमारी प्रवृत्ति है कि जिस बात से हमारी मान्यता और धारणा पुष्ट होती है, वही बात हमें अच्छी लगती है, हम

काट–छाँट करके मतलब की बात ग्रहण कर लेते हैं और बाकी छोड़ देते हैं।

यदि नीम के पेड़ में से किसी को खूँटी चाहिए तो वह खूँटी ले लेता है, किसी को पत्ते चाहिए तो पत्ते ले लेता है, किसी को निबौली चाहिए तो निबौली ले लेता है, किसी को नीम के फूल चाहिए तो वह ले लेता है और किसी को जड़ चाहिए तो वह जड़ ले लेता है। जिसको जो चाहिए, वह वही काट–छाँट करके ले लेता है। किन्तु ये काट–छाँट से दूसरे का कहीं–कुछ अहित नहीं होता, अहित हमारा ही होता है। यदि हम यथार्थ को ग्रहण करते हैं तो हमारा हित है, और यदि अयथार्थ को ग्रहण करते हैं तो हमारा ही अहित है।

यह असंयम दुःख की जननी है, असंयम दुःख का मूल है और यह संसार का बीज है। अतः इस असंयम से बचने की कोशिश करो। एकान्त में बैठकर के चिन्तन करो। बहाना मत बनाओ कि मैं इस कारण से दीक्षा नहीं ले पा रहा हूँ या परिस्थितियाँ ही ऐसी हैं कि मैं दीक्षा नहीं ले पा रहा; बहाना मत बनाओ कि आज काल अनुकूल नहीं है, आज मोक्ष नहीं हो सकता है। अपितु अपनी आत्मा से कहो—तुझे ऐसा कार्य करना ही नहीं है, तो तू दूसरों को दोष क्यों देता है? नहीं करना है तो मत करो, किंतु दूसरों को दोष मत दो। बहाने बनाना, दोष लगाना—ये सब केवल अपनी आत्मा को ठगने और प्रवंचना के निमित्त हैं।

अपनी आत्मा का हित करने वाला व्यक्ति समीचीन प्रवृत्ति पंचमकाल में भी करता है, तीसरे काल में भी करता था और चौथे काल में भी करता था। जो अपनी आत्मा का हित नहीं कर सकते, वे न चौथे काल में कर सकते हैं और न पंचमकाल में कर सकते हैं। जब अच्छा काल था, तब भी दीक्षा नहीं ली; जब बुरा काल आया, तब भी दीक्षा नहीं ली और आगे बुरा काल आएगा तब भी दीक्षा नहीं लेंगे। काल बदलता रहा, पर यदि हमारी वृत्ति नहीं बदली तो बहाना केवल काल का रहा, निर्णय तो हमारा ही था। जिसे अपनी आत्मा का हित करना है, उसके लिए चाहे काल कितना भी प्रतिकूल क्यों न हो जाए, आत्महित का मार्ग बंद नहीं होता।

हमें अपनी आत्मा को संभालना है, काल को नहीं। हमें पूरे पंचम युग को नहीं संभालना, पूरे भरत क्षेत्र को नहीं संभालना; हमें तो केवल अपनी आत्मा को संभालना है। जो अपनी आत्मा को संभाल लेता है, वही आत्मा का हित करने में समर्थ होता है; और जो अपनी आत्मा को छोड़कर सबको संभालने में लगा रहता है, वह कभी किसी को नहीं संभाल पाता।

महानुभाव! अतः असंयम से बचकर संयम की ओर आगे बढ़ें। यही हमारा आपके प्रति विनम्र और मधुर संकेत है कि आप बार-बार एकान्त में बैठकर चिन्तन करें कि मैं कैसे अपनी आत्मा को अशुभ से बचाऊँ? अपनी आत्मा

को शुभ में कैसे लगाऊँ? मेरी आत्मा यदि अशुभ से बच गई तो मैं अहित से बच गया और यदि मेरी आत्मा शुभ में लग गई तो मेरा कल्याण सुनिश्चित है।

दुनिया की समीक्षा करने से मेरा कल्याण नहीं है। दूसरों को देखने में जीवन व्यतीत करने के स्थान पर अपनी आत्मा को देखना प्रारम्भ करें। आज बस इतना ही।

॥ श्री शान्तिनाथ भगवान की जय ॥

सुमार्ग का भाजक कौन?

महानुभाव! एक छोटा-सा प्रसंग है। चातुर्मास के उपरान्त किसी जिनालय के शिखर पर सफेद पेंट कराना था। समाज में चर्चा हुई। पेंट कराने का अधिक खर्च भी नहीं था। समय बहुत कम था। आष्टाह्निका पर्व निकट था और उसमें विधान की संभावना थी; अतः पूरा मंदिर सजाया जाना था।

पेंट करने वाले व्यक्ति से कहा गया—''भाई! यह कार्य शीघ्र करना है।'' उसने कहा—''मैं इतनी जल्दी यह कार्य नहीं कर सकता। उससे पूछा—क्यों भाई? यह तो सिर्फ चार दिन का काम है। एक दिन में एक साइड से किया जाए तो चार दिन में चारों साइड से हो जाएगा। उसने कहा—हाँ, आपके अनुसार हो जाएगा, किन्तु मुझे इस पर पेंट करने के लिए दस दिन चाहिए। अरे भाई! हम चाहते हैं दो-तीन दिन में कार्य पूर्ण हो जाए। आप दिन में भी काम लगाइए और रात में भी; कार्य जल्दी हो जाएगा।

वह बोला—'भैया! इतनी जल्दी यह काम नहीं हो सकता। आपको यदि इतनी ही जल्दी है तो किसी दूसरे से करा लीजिए। मुझे दस दिन से कम समय नहीं चाहिए।' पुनः पूछा गया—भैया! ऐसा क्या है कि तीन दिन का काम आप दस दिन में करना चाहते हो? वह बोला—''मैं सर्वप्रथम इस शिखर पर जो बीस-तीस वर्ष पहले पेंट हुआ था, उसे पूरी तरह खुरचकर निकालूँगा, क्योंकि यदि पुराना

पेंट हटाए बिना उसके ऊपर नया पेंट कर दिया, तो नया पेन्ट भी अधिक समय तक नहीं टिकेगा।

क्या आपने कभी सड़क बनते हुए देखी है? पहले पुरानी सड़क को खोदकर अलग किया जाता है फिर नई गिट्टी डालकर नई सड़क बनाई जाती है। ऐसा क्यों करते हैं? क्या आपने कभी कृषक को देखा है? वह पहले खेत की जुताई करता है। एक बार नहीं, आवश्यकता पड़ने पर सात बार से भी अधिक जुताई करता है। और यदि गेहूँ की फसल बोनी हो तो कृषक बीस बार तक जुताई करता है। कहावत है–''बीस जोत और छह पानी'' छह बार सिंचाई करो और बीस बार जोतो, तब फसल उत्तम आती है।'' अभी बीज बोया भी नहीं उससे पहले ही जुताई हो रही है; खेत में जो झाड़-झंखाड़ हैं, उन्हें उखाड़कर बाहर फेंका जा रहा है।

महानुभाव! यह सब क्यों किया जाता है? इसलिए कि यदि भूमि को पहले अच्छी तरह तैयार न किया जाए तो अच्छे से अच्छा बीज भी अपेक्षित फल नहीं दे सकता। जैसे दूध की मटकी को अच्छी तरह साफ किए बिना उसमें दूध रख दिया जाए तो दूध भी दही बन जाता है, बिगड़ जाता है। मटकी स्वच्छ हो तो दूध सुरक्षित रहता है।

इससे सिद्ध होता है कि जब तक अपने अंदर बुराइयाँ, दोष, अपराध और पाप विद्यमान हैं, तब तक अच्छाई अपना स्थान नहीं बना सकती। अच्छाई को स्थान देना है तो पहले बुराई को स्थान से हटाना होगा। तभी अच्छाई अपना स्थान जमा सकती है। बुराई की जड़ उखाड़े बिना अच्छाई का

पेड़ नहीं लगाया जा सकता। खेत में पहले से झाड़-झंखाड़ खड़े हों और उन्हें उखाड़े बिना अंगूर की बेल लगाना चाहें तो वह पनप नहीं पाएगी। अतः उन्हें दूर करना अत्यंत आवश्यक है।

छहढालाकार दौलतराम जी ने लिखा है–

''बिन जाने तैं दोष गुणन को, कैसे तजिए-गहिए।''

अर्थात् बिना ज्ञान के न तो दोषों का यथार्थ त्याग संभव है और न गुणों का सम्यक् ग्रहण। इसलिए पहले दोषों को पहचानना आवश्यक है। पुनः उनके त्याग की बात कही; क्योंकि गुणों को ग्रहण कर लिया जाए और दोषों का त्याग न किया जाए, तो वे गुण भी दोष का रूप धारण कर लेते हैं। अतः पहले दोषों का त्याग करना परम आवश्यक है। गंदे, बदबूदार वस्त्र उतारे बिना यदि कोई अच्छे वस्त्र पहन ले, तो उन अच्छे वस्त्रों में भी बदबू आने लगती है। इसका आशय यही है कि अच्छाई को ग्रहण करने से पहले बुराई का त्याग करना परम आवश्यक है। पापों का त्याग करके ही पुण्य का संचय संभव है और बुराई को छोड़कर ही अच्छाई को ग्रहण किया जा सकता है।

सबसे पहले सप्त व्यसनों का त्याग कराया जाता है, पाँच पापों का त्याग कराया जाता है और उसके पश्चात् बारह व्रतों एवं प्रतिमाओं की बात की जाती है। पहले पापों का कुफल समझो, उनका त्याग करो, जिससे जीवन में अच्छाई के प्रवेश के लिए स्थान बन सके।

आपने दो चींटियों की कथा सुनी होगी, उनमें से एक शक्कर के ढेर पर रहती थी और दूसरी नमक के ढेर पर। एक बार दोनों आपस में मिलीं। नमक के ढेर पर रहने वाली चींटी ने पूछा–''बहिन! तुम कैसी हो? वह बोली–मैं तो ठीक हूँ। मेरे यहाँ बहुत शक्कर है, इसीलिए मैं तो मस्त हूँ। दूसरी बोली–बहिन! मेरे यहाँ तो नमक ही नमक है। नमक खाते-खाते मेरा शरीर तो गलता ही जा रहा है।

शक्कर के ढेर पर रहने वाली चींटी ने कहा–''बहिन! तू मेरे साथ चल। सब ठीक हो जाएगा।'' वह उसके साथ चली गई। वहाँ पहुँचकर उसने शक्कर का ढेर देखा और शक्कर खाने लगी, खाते ही बोली–बहिन! मुझे तो इसमें शक्कर का स्वाद ही नहीं आ रहा। यह भी नमक जैसी ही लग रही है। तू मुझे कहाँ ले आई। शक्कर वाली चींटी को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह बोली–यहाँ तो नमक का नामोनिशान भी नहीं है। यहाँ तो चारों ओर केवल शक्कर और मिश्री के ढेर ही ढेर हैं। हाँ बहिन! पर मुझे तो स्वाद नमक का ही आ रहा है। अच्छा, एक बात बताना–क्या तुम्हारे मुख में कुछ है? वह बोली–''मेरे मुख में क्या होगा? हाँ, रास्ते के लिए अपने मुख में थोड़ा सा नाश्ता रखकर लाई थी कि कहीं तू मुझे धोखा न दे दे।'' देखा तो उसके मुख में नमक की छोटी-सी डली थी।

शक्कर वाली चींटी बोली–''बहिन! जब तक नमक की यह छोटी-सी डली तुम्हारे मुख में रहेगी, तब तक मिश्री का स्वाद नहीं आ सकेगा। पहले इस नमक की डली को बाहर निकालकर रख दो, फिर मिश्री का स्वाद लो।

महानुभाव! ये प्रसंग भी यही बताता है–पहले नमक का त्याग फिर शक्कर का स्वाद अर्थात् पहले बुराई का त्याग, फिर अच्छाई का आनंद। जब तक भीतर दोषों की डली रखी है, तब तक गुणों की मिठास का अनुभव कैसे होगा? इसी प्रकार पहले आर्त-रौद्र ध्यान को छोड़ा जाता है फिर धर्मध्यान और शुक्लध्यान संभव है। पहले मिथ्यात्व को छोड़ा जाता है, तभी सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

महानुभाव! इसी बात को आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी जी प्रवचनसार में 297वीं गाथा में कहते हैं–

उवरदपावो पुरिसो, समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु।
गुणसमिदिदोवसेवी, हवदि स भागी सुमग्गस्स॥

आचार्य महोदय कह रहे हैं–'उवरदपावो' अर्थात् जो पापों से उपरत हो गया, वही आगे बढ़ सकता है। जैसे कीचड़ के पार जाने पर सूखी भूमि मिलती है। जल के पार जाने पर पुनः स्थल मिलता है और संसार के पार जाने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। संसार में रहकर मोक्ष का आनंद नहीं लिया जा सकता; पाप में रहते हुए पुण्य का आनंद नहीं लिया जा सकता, दुःख में सुख की अनुभूति नहीं होती, अग्नि के कुण्ड में पड़े व्यक्ति को शीतलता का अनुभव नहीं हो सकता। अज्ञान के पार जाओ तो अनंतज्ञान मिल जाएगा। दुःखों के पार जाओ तो सुख मिल जाएगा, अंधकार के पार जाओ तो प्रकाश मिल जाएगा। ये सब संभव है; किन्तु पार जाने पर, उसके भीतर बने रहने पर नहीं।

इसीलिए यहाँ कहा–**'उवरद पावो'** पापों के पार पहुँचो। जो कोई पुरुष पापों के पार चला जाता है, वही आगे पुण्य कार्य करने का वास्तविक अधिकारी बनता है।

पहले अभक्ष्य पदार्थों का त्याग करो, फिर भक्ष्य पदार्थों के सेवन का नियम लो। पहले रात्रिभोजन का त्याग करो फिर दिन के भोजन करने का संकल्प करो। कोई कहे–''मैं रात्रिभोजन का त्याग तो नहीं कर सकता, किन्तु दिन में भोजन करने का संकल्प लेता हूँ, तो इसका आशय वह रात्रि में भी भोजन करेगा। ऐसी स्थिति में दिन में किए गए भोजन का भी सम्पूर्ण फल प्राप्त नहीं हो सकता।

इसी प्रकार कोई कहे–''मैं पाप तो छोड़ूँगा नहीं, किन्तु पुण्य अवश्य करूँगा, तो पाप के साथ किया गया वह पुण्य कार्य भी समीचीन पुण्य का कारण कैसे बन सकेगा? बुराई को छोड़े बिना अच्छाई को ग्रहण करने का प्रयास पूर्ण नहीं हो सकता। जमीन से पैर हटाए बिना आगे कदम नहीं बढ़ सकता। आगे बढ़ने के लिए जितना आवश्यक नया कदम उठाना है, उतना ही आवश्यक पिछले कदम को छोड़ना भी है। जो अशुभ है, अशुचि है, असुखकारक है, जो अज्ञान रूप है और जो संसार का हेतु है–उन सबका त्याग करने पर ही शिवत्व और सिद्धत्व की प्राप्ति संभव है।

आचार्य महोदय ने कहा–**पहले त्याग करो।** पाप अशुभ है; पाप की दूसरी पर्याय का नाम 'दु:ख' है। पाप नियमत: संसार का कारण है। पुण्य परम्परा से भले ही मोक्ष का कारण हो जाए, किन्तु पाप कभी मोक्ष का कारण नहीं हो

सकता। इसीलिए पापों को छोड़ो। जैसे जमीन का त्याग किए बिना आकाश की यात्रा नहीं हो सकती और मृत्यु को स्वीकार किए बिना अगली पर्याय में जन्म नहीं हो सकता, उसी प्रकार पाप का त्याग किए बिना आत्मोन्नति सम्भव नहीं है। इसीलिए कहा–पहले त्याग करो।

मन में जो विकल्प, दुःचिंताएँ और शोक के कारण हैं, उन्हें छोड़ो तो सुख की अनुभूति होने लगेगी। जब पुरुष पापों से उपरत हो गया तो वह धर्मात्मा बन गया। किंतु आचार्य महोदय कह रहे हैं–धर्मात्मा बनकर भी यदि आपके मन में किसी के प्रति राग-द्वेष अथवा उपेक्षा का भाव है, तो वह जीव तब तक सुमार्ग का भागी नहीं हो सकता। उसके लिए समत्व भाव आवश्यक है।

आपको किसी के अंदर भी धर्म दिखाई दे, वह व्यक्ति चाहे आपसे राग रखता हो या द्वेष रखता हो, आप उसके अंदर विद्यमान धर्म को देखो, उसके चर्म को मत देखो। जो सभी साधर्मियों के प्रति समत्वभाव रखता है, साधर्मियों में भेदभाव नहीं करता, ऐसा जीव गुणों के समूह का सेवन करने वाला होता है। तीन बातें हो गई–पहली, पापों का त्याग; दूसरी, सभी साधर्मियों के प्रति समत्व का भाव रखना और तीसरी, गुण-समूह का सेवन करने वाला।

इस बात को ऐसे समझें–स्वास्थ्य प्रतिकूल हुआ तो उन पदार्थों का त्याग करो, जिनके कारण स्वास्थ्य प्रतिकूल हुआ है। यदि उन्हीं वस्तुओं का सेवन करते जाओगे तो स्वास्थ्य ठीक नहीं होगा, बल्कि बिगड़ता जाएगा। अतः

त्याग करो। अब औषधि मिल गई है तो उसका विधिपूर्वक सेवन करो। यदि फिर भी निरोग अवस्था प्राप्त नहीं होती है तो तीसरा कार्य करो—पौष्टिक पदार्थों का सेवन।

सुमार्ग का भाजक कौन है? उसमें तीन बातें हों—पहले पापों का त्याग, फिर धर्मात्माओं में धर्म की खोज अर्थात् सभी धर्मात्माओं के प्रति एक सा व्यवहार करना और तीसरा गुणों का सेवन। दोषों का सेवन करने वाला नहीं, अपितु गुणों का सेवन करने वाला हो। पापों से पीठ हो जाए, दृष्टि धर्म पर स्थिर हो जाए और जो लक्ष्य है, उसकी प्राप्ति के लिए उसके गुणों और विशेषताओं का सतत स्मरण करते रहो। इस प्रकार आगे बढ़ने वाला व्यक्ति निश्चित रूप से सुमार्ग का भागी होता है।

महानुभाव! आपको भी यदि सुमार्ग प्राप्त करना है तो सबसे पहले कहा जाता है—बुरी आदतों को छोड़ो, खोटे संस्कारों का परित्याग करो। जिसके कारण आपकी आत्मा दुःख पाती है, उन्हें छोड़ो; जिसके कारण आपकी संक्लेशता बनती है, उसको छोड़ो और अच्छाई को ग्रहण करो। आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी जी ने रयणसार में लिखा है—

देव-गुरु-समयभत्ता, संसार-सरीर-भोग-परिचत्ता।
रयणत्तय-संजुत्ता, ते मणुया सिवसुहं पत्ता॥9॥

जो देव, शास्त्र और गुरु के परम भक्त हैं और संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हैं तथा रत्नत्रय से संयुक्त हैं,

वे ही मोक्षमार्ग के पात्र हैं, सुमार्ग के भागी हैं। 'देवगुरु-समयभत्ता' कहिए तो औषधि का सेवन करने वाले; 'संसार-सरीर-भोग-परिचत्ता' कहिए तो अपथ्य का त्याग करने वाले और 'रयणत्तय-संजुत्ता' कहिए तो पौष्टिक पदार्थों का सेवन करने वाले। वास्तव में वे ही मोक्षमार्ग पर चलने में समर्थ हैं तथा मोक्ष को प्राप्त करने की पात्रता रखते हैं।

महानुभाव! आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी का यह गाथा-सूत्र निःसंदेह हमें आत्महित की प्रबल प्रेरणा देने वाला है। इसका सतत चिन्तन-मनन करें और जीवन में अंगीकार करें, तो निःसंदेह सुमार्ग के पथिक बनेंगे। आपके प्रति हमारी यही मंगल भावना है कि आप बुराइयों से बचें, दोषों से बचें, दुःखद कारणों से बचें। सुख के कारणों को स्वीकार करें, निर्दोष धर्म को स्वीकार करें और गुण-समूह को अपने भीतर प्रकट करें। तब निःसंदेह आप भी शिवमार्ग के पथिक बन सकेंगे और अपनी भवितव्यता को प्रकट करते हुए शिवत्व को प्राप्त कर सकेंगे। आप सभी का शुभ हो, मंगल हो—इन्हीं सद्भावनाओं के साथ...

॥ श्री शान्तिनाथ भगवान की जय ॥

पूजा का फल

महानुभाव! जिनेन्द्र भगवान की अर्चना करने वाला व्यक्ति निःसंदेह अपने पापों का नाश करता है और सातिशय पुण्य से अपने जीवन को परिपूरित करता है। एक कारण से अनेक कार्य संभव होते हैं। यहाँ भी जिनेन्द्र-प्रभु की पूजनरूपी एक क्रिया से अनेक प्रयोजन सिद्ध होते हैं–अशुभ आस्रव से बचकर शुभ आस्रव होता है, पाप बंध से बचकर पुण्य बंध होता है, अशुभ का संवर एवं पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा भी होती है, संसार घटता है और मोक्षमार्ग का साधन प्राप्त होता है। इस प्रकार दुःखों को नष्ट करने के लिए किया गया कार्य सुखों की प्राप्ति का कारण भी बन जाता है।

जिनेन्द्र भगवान की पूजा-भक्ति करने वालों को सौधर्म इन्द्र के समान कहा जाता है। कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि जो भगवान की पूजा-भक्ति करते हैं, वे मानो भगवान के दरबार में अपनी सेवा दे रहे हैं। यदि कोई कर्मचारी राजा के दरबार में रहता है और उसका कार्य उत्कृष्ट होता है, तो राजा उसे उचित पारिश्रमिक एवं पुरस्कार भी देता है। यदि किसी व्यक्ति के यहाँ कोई व्यक्तिगत कार्य करता है, तब भी उसे पारिश्रमिक दिया जाता है। साथ ही पर्वों के दिनों में होली, दीवाली, दशहरा, रक्षाबंधन आदि शुभ अवसरों पर उसे मिष्ठान्न, पुरस्कार आदि भी दिए जाते हैं। किसी कवि ने लिखा है–

जे नर पूजन करत हैं, ते नर इन्द्र समान।
मनुज मजूरी देत है, क्यों न देय भगवान।।

यद्यपि हमारा जैनदर्शन कहता है कि कोई किसी को कुछ देता नहीं; प्रत्येक जीव अपने-अपने पुण्य-पाप का फल प्राप्त करता है। फिर भी हम अपने अच्छे कार्यों का श्रेय अपने से बड़े को, अभिभावकों को, संरक्षकों को देते हैं कि आपकी कृपा से मेरा यह कार्य सम्पन्न हो गया। इसके विपरीत, जो भी बुरे कार्य होते हैं, उन्हें स्वयं स्वीकार करते हैं, जिससे हम बुरे कार्यों से बच सकें।

किन्तु दीर्घ संसारी व्यक्ति की प्रवृत्ति इसके विपरीत होती है। वह बुरे कार्यों को दूसरों पर थोपता है और अच्छे कार्यों का श्रेय स्वयं अपने खाते में डाल लेता है—मैंने ऐसी पढ़ाई की, ऐसी जॉब की, मैंने मकान बनाया, मैंने उस पर इतना परोपकार किया आदि। इतना सब करने के बाद भी यदि उसे अच्छा फल नहीं मिलता तो वह शिकायत करने लगता है। ऐसी प्रवृत्ति मिथ्यादृष्टि की होती है। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा सज्जन पुरुष कहता है—जो कुछ भी अच्छा हुआ, वह सब मेरे माता-पिता ने किया, मेरे बंधु-बांधवों ने किया, मेरे गुरुजनों ने किया।

महानुभाव! जिनेन्द्र प्रभु की अर्चना करने से पापों का नाश होता है और निर्ग्रंथ गुरुओं की सेवा-भक्ति करने से पुण्य का संचय होता है। पापों का नाश होने का आशय है—दु:खों की इतिश्री; और पुण्य के संचय होने का आशय है—सुखों के मार्ग की प्राप्ति अथवा सुखों के खजाने की चाबी मिल जाना। इसीलिए आप देवदर्शन पाठ में पढ़ते हैं-

दर्शनं देवदेवस्य, दर्शनं पापनाशनम्।
दर्शनं स्वर्गसोपानं, दर्शनं मोक्षसाधनम्।।
दर्शनेन जिनेन्द्राणां, साधूनां वन्दनेन च।
न चिरं तिष्ठते पापं, छिद्रहस्ते यथोदकम्।।

जिस प्रकार सछिद्र अंजलि में पानी नहीं ठहरता, उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान की भक्ति, पूजा, अभिवंदना आदि करने से पाप ठहरते नहीं हैं। कितना भी तीव्र पाप कर्म का उदय आ रहा हो, भगवान के चरणों में जाकर बैठ जाओ, उनका अभिषेक, शांतिधारा करो, उनके गुणों का चिन्तवन करो तो पाप शनैः-शनैः क्षीण होता जाएगा और पुण्य शनैः-शनैः वृद्धि को प्राप्त होगा। अतः जिनेन्द्र भगवान की पूजन-वंदन करना श्रावक और श्रमण दोनों का आदि कर्त्तव्य होता है। इसके बिना श्रावकत्व और श्रमणत्व संभव नहीं है।

महानुभाव! यदि मिथ्यादृष्टि जीव भी भगवान की पूजा-भक्ति करता है तो वह उसके फलस्वरूप नियमतः सुगति को प्राप्त करता है, पापों का नाश भी होता है। वह मिथ्यादृष्टि होकर भी भगवान के निमित्त से अपने परिणामों को शांत करता है, कषायों को शांत करता है और अपने चित्त में विशुद्धि बढ़ाता है। इससे उसके मन में जो आनंद उत्पन्न होता है, वह शब्दातीत है। संसार का कोई भी प्राणी उससे वह आनंद छीन नहीं सकता।

वह आनंद स्वकीय आत्मप्रदेशों में निष्पन्न होता है। वह आनंद ही उसका स्वभाव है, नियति है, प्रकृति है; अतः

उसे ही प्राप्त करने का उपक्रम करना है। और जो आनंद राग - द्वेष से विहीन है, वही तो हमारा वास्तविक स्वभाव है। उस आनंद को अपने भीतर बढ़ाओ। आनंद के स्रोत को ऐसा बनाओ कि वह कभी सूखे नहीं। यदि जल का स्रोत सूख जाता है तो कुएँ कितने गहरे क्यों न हों, वे भी सूख जाते हैं; और यदि स्रोत बना रहता है तो कितना भी पानी खींचते जाओ, पानी सूखेगा नहीं। ऐसे ही हमारे आनंद का स्रोत हो जाए कि हम कितना भी दूसरों को आनंद दें, सुख-शांति लुटाएँ, फिर भी हमारा आनंद कम न हो। ऐसे आनंद का स्रोत जिनेन्द्र भगवान की भक्ति करने से प्राप्त होता है, साथ ही भगवान की भक्ति करने से हमारे पाप भी नष्ट होते हैं।

पाप के ऊपर किसी लाठी का या अन्य शस्त्र का प्रहार काम नहीं करता, वरन् इन पापों पर पुण्य का प्रहार करो। पुण्य क्रियाओं और पुण्य वचनों का प्रहार करो। संयम-साधना में संलग्न हो जाओ तो पापरूपी शत्रु निर्बल हो जाते हैं। ऐसे कहें कि पापरूपी रोगी पीड़ित हो गए, जर्जर हो गए और वे स्वयं धीरे-धीरे नष्ट होने लगते हैं। यदि अच्छे मार्ग को स्वीकार कर लो तो बुरा मार्ग स्वयं छूट जाता है और यदि बुरे मार्ग का त्याग कर दो तो अच्छा मार्ग अपने-आप प्राप्त हो जाता है।

जिनेन्द्र भगवान की भक्ति के विषय में रामचन्द्र मुमुक्षु के शिष्य केशव वर्णी जी ने 'पुण्यास्रव कथाकोष' में एक उदाहरण देते हुए कहा है कि जिसने मिथ्यात्व की दशा

में भी पूजा-भक्ति की, उसे भी उसका फल प्राप्त हुआ। पूजा-भक्ति के प्रभाव से अतिशय पुण्य को प्राप्त हुए अनेक उदाहरण मिलते हैं। चाहे धनदत्त ग्वाला रहा हो, जो भक्ति के प्रभाव से आगे चलकर राजा करकण्डु हुआ; चाहे मिथिला नरेश पद्मरथ हों, जो भगवान वासुपूज्य के गणधर बनकर मोक्ष को प्राप्त हुए; चाहे धण्णंकर-पुण्णंकर हों, जो क्षेमंकर श्रेष्ठी के सेवक थे-उन्होंने भगवान की पूजन की, जिसके माध्यम से वे दोनों अमरसेन-वइरसेन हुए और आगे चलकर सुगति को प्राप्त किया। ऐसे एक नहीं, अनेकों उदाहरण हैं। यहाँ पुण्यास्रव कथाकोष की प्रथम कथा में मिथ्यादृष्टि, ज्ञानविहीन, अबोध बालिकाओं ने जिनेन्द्र भगवान के चरणों में किस प्रकार भक्ति की-यद्यपि वे सही पूजा-भक्ति की विधि नहीं जानती थीं, तथापि उनके जो भाव थे, उनके प्रभाव से उन्होंने पुण्यफल को प्राप्त किया। उनके बारे में लिखा है-

पुष्पोपजीवितनुजे वरबोधहीने,
जाते प्रिये प्रथमनाकपतेर्गुणाढ्ये।
श्रीजैनगेहकुतपं भुवि पूजयन्त्यौ,
नित्यं ततो हि जिनपं विभुमर्चयामि।।

पुष्पों से अपनी आजीविका चलाने वाली माली की पुत्रियाँ, जो श्रेष्ठ ज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान से रहित थीं, मिथ्यादृष्टि थीं किन्तु भद्र परिणामी और मंदकषायी थीं। वे शैव मंदिर की सेवा करती थीं। दोनों बहनें प्रतिदिन पुष्प

वाटिका से पुष्प चुनकर लाती और अपनी टोकरी में से एक-एक पुष्प निकालकर मार्ग में मिलने वाले जिनमंदिर की देहरी पर चढ़ातीं, तथा अपना माथा झुकातीं। उसके बाद जहाँ उन्हें जाना होता वहाँ वे चली जातीं।

उनका यह क्रम कई दिनों से चल रहा था। संयोग की बात, ग्रीष्मकाल का समय था। एक दिन वे पुष्प चुनने के लिए वन में गईं। घर में पिताजी का स्वास्थ्य प्रतिकूल था, उन्हें औषधि भी देनी थी। माँ थी नहीं। वे मातृविहीन दोनों बहनें जल्दी से घर से चर्चा करके गईं कि आज जल्दी-जल्दी चलना है, घर का कार्य भी करना है, मंदिर की सेवा का कार्य भी करना है, आज पिताजी भी मंदिर नहीं जा पाएँगे, हमें पिताजी की भी सेवा करनी है। अतः वे जल्दी से पुष्पवाटिका में पहुँचीं। ग्रीष्म ऋतु की उष्णता होने के कारण बिल में रहने वाले सर्प आदि बाहर निकल आए थे और पुष्प वाले वृक्षों से लिपट गए थे। ये दोनों बालिकाएँ पुष्प चुनने लगीं। ज्यों ही पुष्प तोड़े, वृक्ष हिला तो सर्प भी हिले। सर्पों ने फुँकारते हुए दोनों को डस लिया। दोनों वहीं मूर्छित होकर गिर पड़ीं, वहाँ उन्हें देखने वाला भी कोई नहीं था।

पिताजी घर में आकुल-व्याकुल हो रहे थे—मेरी पुत्रियाँ इतनी देर हो गई, अभी तक लौटकर नहीं आईं। सूर्य का उदय भी हो गया, सूर्य चढ़ गया। मंदिर से लोग घर आने लगे। उन्हें डाँटने के लिए कि कहाँ है माली? आज मंदिर

की सेवा भी नहीं हुई, किन्तु कोई यह जानने वाला नहीं था कि इस परिवार के साथ क्या हुआ।

वहीं बेचारी दोनों बालिकाएँ मृत्यु को प्राप्त हो गईं। वे दोनों सौधर्म इन्द्र की नियोगिनी देवियाँ हुईं। सौधर्म इन्द्र समवसरण में तीर्थंकर भगवान की पूजन-भक्ति करने के लिए विदेह क्षेत्र गया। वह अपनी शची आदि सभी देवांगनाओं को साथ में ले गया, किन्तु ये दोनों देवांगनाएँ बाद में पहुँचीं, किंकर दोनों को बाद में लेकर गया। वहाँ जाकर सौधर्म इन्द्र से निवेदन किया–हे देव! ये दोनों अभी-अभी अवतरित हुई हैं। ये आपकी देवांगनाएँ हैं।

तभी वरदत्त चक्रवर्ती ने तीर्थंकर भगवान से निवेदन किया–हे भगवन्! इन दोनों ने कौन सा पुण्य किया; जिसके माध्यम से ये स्वर्गपति सौधर्म इन्द्र की देवांगनाएँ हुई हैं? तब बताया कि पूर्व में ये दोनों मालाकार की पुत्रियाँ थीं, जो पुष्प चुनने गई थीं। जाते समय दोनों के मन में यही भाव था कि हम जिनेन्द्र भगवान की देहरी पर पुष्प चढ़ाने जाएँगी, किन्तु सर्प के डस लेने से वन में मूर्छित हो गईं। फिर भी आत्मा में यह परिणाम चल रहा था कि आज हम पुष्प चुनने तो आए, किन्तु जिनेन्द्र भगवान की देहरी पर पुष्प नहीं चढ़ा पाए। यही भाव निरन्तर चल रहा था। इसी भाव के साथ उन्होंने अंत समय में देवायु का बंध किया और मरण करके इन्द्र की देवांगनाएँ हुईं।

महानुभाव! जब **'श्रीजैनगेहकुतपं भुवि पूजयन्त्यौ'** जैन मंदिर में अज्ञानता के साथ ही सही, पूजा-भक्ति करने के प्रभाव से वे मिथ्यादृष्टि, बोधहीन मालाकार की दोनों पुत्रियाँ, इस दिव्य अवस्था को प्राप्त हुईं, तब **'नित्यं ततो हि जिनपं विभुमर्चयामि'** मैं तो प्रतिदिन जिनेन्द्र प्रभु की अर्चना करता हूँ।

नित्य प्रातःकाल आप मंदिर पहुँच पाएँ या नहीं, किन्तु जैसे ही प्रातःकाल आपकी नींद खुले, सबसे पहले 'णमो अरिहंताणं' कहते हुए समवसरण में विराजमान अरिहंत प्रभु को नमस्कार करो। साक्षात् समवसरण में नहीं जा सकते, किन्तु भावों की विशुद्धिपूर्वक जिनेन्द्र प्रभु के समवसरण का स्मरण करते हुए नमस्कार करें।

'णमो सिद्धाणं' सिद्धशिला पर राजित अनंतानंत सिद्ध परमेष्ठी को प्रणाम करें। 'णमो आयरियाणं' जो पंचाचार का पालन करने में निपुण हैं, जो शिष्यों का संग्रह-निग्रह करने वाले हैं, ऐसे आचार्य परमेष्ठी को नमस्कार हो। वे आचार्य परमेष्ठी, जो भव्य जीवों को संसार के गर्त से निकालकर बाहर लाते हैं, उन्हें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का उपदेश देते हैं। जिस शिष्य की जितनी क्षमता और भवितव्यता होती है, वह उसी के अनुरूप रत्नत्रय को स्वीकार कर पाता है। जैसे सभी वृक्ष में जल, खाद, सूर्य का प्रकाश और भूमि एक जैसी ही मिलती

है, फिर भी सभी वृक्षों पर फल एक जैसे नहीं आते और एक वृक्ष के सभी फल भी एक जैसे नहीं होते। कोई बड़ा है, कोई छोटा है, कोई कच्चा तो कोई पका है। यह सब अपनी-अपनी नियति होती है। अतः आचार्य महोदय जो आचरण के देवता हैं, जो भव्यों को गर्त से बाहर निकालते हैं, उन्हें नमस्कार करें।

'णमो उवज्झायाणं' जो निरन्तर अध्ययन-अध्यापन में संलग्न रहते हैं, स्वयं अध्ययन करते हैं और दूसरों को भी अध्ययन कराते हैं, जो ज्ञानमूर्ति हैं, सभी शंकाओं का समाधान करते हैं—अपने से संतुष्ट हैं, स्वसमय और परसमय में निष्णात होते हैं—धन्य हैं ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी। उन्हें भी मेरा भावसहित नमस्कार हो।

'णमो लोए सव्वसाहूणं' लोक में विद्यमान सभी साधु परमेष्ठियों को नमस्कार हो। चाहे वे यथाख्यात चारित्र को धारण करने वाले हों, चाहे सूक्ष्म-साम्पराय चारित्र में स्थित हों, चाहे परिहार-विशुद्धि चारित्र का पालन करने वाले हों अथवा सामायिक, छेदोपस्थापना चारित्र को धारण करने वाले हों, चाहे वे पुलाक हों, बकुश हों, कुशील हों, निर्ग्रन्थ हों, चाहे स्नातक हों, चाहे वे मूलगुणों का पालन निर्दोष कर रहे हों अथवा सदोष, चाहे उत्तरगुणों का पालन कर रहे हों—तीनों लोकों में विराजमान साधु परमेष्ठियों को जो व्यक्ति एक बार भी श्रद्धापूर्वक नमस्कार करता है, वह

प्रातःकाल जगते ही सबसे पहले मानों पुण्य का खजाना ही प्राप्त कर लेता है।

पञ्चपरमेष्ठी के चरणों में किया गया भावपूर्ण नमस्कार भी कितना प्रभावशाली हो सकता है। जो पापरूपी सूखा ईंधन भीतर संचित पड़ा है, एक बार नमस्कार करने से भस्म होने लगता है। आप पढ़ते हैं–

एसो पञ्च णमोयारो, सव्व पावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं॥

महानुभाव! आप मंदिर गए। भले ही आपको पूजा-पाठ, भक्ति, अभिषेक अथवा शांतिधारा कुछ भी करना नहीं आता, कोई बात नहीं, बस श्रद्धापूर्वक भावसहित विनम्र होकर भगवान के सामने सिर झुका लो, एक बार णमोकार मंत्र पढ़ लो कि हे भगवान्! हम तो बस यही जानते हैं, यही हमारी प्रार्थना-अर्चना है। इतना करने से भी असंख्यात गुणित कर्मों की निर्जरा होगी व सातिशय पुण्य का बंध होगा।

महानुभाव! जब मिथ्यादृष्टि अवस्था में भी यदि कोई जीव ऐसा करता है और उसे प्रचुर मात्रा में पुण्य प्राप्त होता है, तब जो सम्यग्दृष्टि हैं, धर्मात्मा हैं, वे भगवान का इस प्रकार स्मरण करेंगे, चिंतन करेंगे, स्तवन पढ़ेंगे, वंदना करेंगे और अपने कर कमलों में कलश लेकर जिनेन्द्र प्रभु के मस्तक पर सौधर्म इन्द्र की अनुकृति करते हुए क्षण भर के लिए भी कलश करता है तो सौधर्मइन्द्र के समान ही पुण्य को प्राप्त होता है।

यदि वह अष्ट द्रव्य से पूजन करते समय केवल द्रव्य नहीं चढ़ा रहा, अपितु मन में यह भाव भी धारण कर रहा है कि भरत चक्रवर्ती के समान मैं भी प्रभु चरणों में अपना सर्वस्व समर्पण करता हूँ—तो ऐसे पूजन करने से वह सातिशय पुण्य का बंध करता है। और विपुल मात्रा में जघन्यतम पापकर्मों की निर्जरा करता है। निविड़ पापकर्म की बेड़ियों को शिथिल करता है तथा शनैः-शनैः मोक्षमार्गी बन सकता है।

महानुभाव! इस प्रकार जिनेन्द्र प्रभु की भक्ति आप सभी नियम से करते रहें; क्योंकि पूजा-भक्ति पूजक को पूज्य बनाने वाली है। आप सभी का कल्याण हो, शुभ हो, मंगल हो—इन्हीं सद्भावनाओं के साथ....

।। श्री शान्तिनाथ भगवान की जय ।।

त्रिकाल पूजन

महानुभाव! यदि इस आत्मा को परमात्मा बनाना है, इसके भवभ्रमण का अंत करना है, जन्म-जरा-मृत्यु जैसे रोगों से इसे सर्वथा मुक्त करना है और आत्मा में समग्र गुणों का आविर्भाव करना है, तो निःसंदेह जिनशासन में ही नहीं, विश्व के लगभग सभी मत-धर्म-सम्प्रदायों में पूजा को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

पूजा क्या है? दक्षिण भारत में पूजा शब्द की व्युत्पत्ति 'पूजय' से मानते हैं। और उसका अर्थ ऐसे लगाते हैं—'पू' कहिए तो पुष्प, 'जय' कहिए तो जयघोष। अर्थात् भगवान के चरणों में पुष्प चढ़ाकर के जयघोष करना पूजा माना जाता है।

'पूजा' शब्द को समझने से पहले चार बातें समझना भी आवश्यक है। पूजा किसकी, पूजा कैसे, पूजा क्यों और पूजा करने वाला कौन? पूजा एक ऐसी प्रक्रिया और विधि है जो पुजारी को पूज्य बना देती है। सर्वप्रथम पुजारी और पूज्य दोनों का स्वरूप जान लेना चाहिए।

पूज्य वह है, जिसकी आत्मा पूर्णतः पवित्र हो चुकी है। 'पूतेषु सा जातः स पूज्यः' जिसके माध्यम से यह आत्मा पवित्र आत्माओं में पहुँच जाती है। जिस आत्मा के आलम्बन से अन्य आत्माएँ भी अपनी पवित्रता की ओर उन्मुख होती हैं; वही आत्मा वास्तव में पूज्य कहलाती है।

पूजा के योग्य वह है, जिसने भवभ्रमण मिटा लिया हो; जो घातिया व अघातिया कर्मों से भी रहित है और जो अनंत चतुष्टय (अनंतदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य) से संयुक्त है, एवं जो सम्यक्त्व आदि आठ गुणों से सहित है अथवा जिसने चेतना की शुद्ध दशा को प्राप्त कर लिया है–वही वास्तविक अर्थ में पूज्य है।

'पूज्य' हमारे आदर्श हैं। पूज्य को देखकर ही व्यक्ति के भीतर उस दिशा में आगे बढ़ने की प्रेरणा जागती है। वस्तुतः पूज्य के पदचिह्नों पर चलकर स्वयं पूज्य बनने की प्रक्रिया ही पूजा है।

अब प्रश्न है–पुजारी कैसा हो? पुजारी श्रद्धावान् हो, अर्थात् जिसकी वह पूजा कर रहा है, उसके प्रति अकाट्य श्रद्धा हो। उसके भीतर दृढ़ विश्वास हो कि यह मेरे पूज्य का स्वरूप है और यही स्वरूप मुझे भी प्राप्त करना है; इसीलिए मैं इनकी पूजा कर रहा हूँ। यदि हम कुछ और स्वरूप प्राप्त करना चाहते हैं और पूजा किसी और की कर रहे हैं; तो उस पूजा से अभीष्ट स्वरूप की प्राप्ति कैसे हो सकती है। जिसकी अवस्था को प्राप्त करना है, पूजा–आराधना भी उसी की होनी चाहिए, तभी वह स्वरूप प्राप्त होगा।

संसार में आज तक ऐसा एक भी व्यक्ति पूज्य नहीं बना, जिसने कभी पूजा नहीं की हो और ऐसा भी नहीं कि जो आज पूजा कर रहा है वह सदा पुजारी ही बना रहे। वह

कल निश्चित ही उसी अवस्था को प्राप्त करेगा। पूज्य वह है, जिसने अपनी आत्मा को शुद्ध कर लिया और पुजारी वह है जो श्रद्धावान् है, भक्ति-विनय से युक्त है, प्यासे चातक की तरह गुणों को प्राप्त करने के लिए आतुर है।

पुजारी वह है जो विवेक पूर्वक कार्य करता है; अकेली श्रद्धा भी पर्याप्त नहीं है। श्रद्धा भी समीचीन हो, अंधविश्वास नहीं; उसके साथ समीचीन ज्ञान भी हो। पूजा आदि प्रत्येक क्रिया वह विवेकपूर्वक करने वाला हो, केवल कहने वाला नहीं।

जिनशास्त्र में पूजा प्रत्येक उपासक के लिए आवश्यक कही गई है—चाहे वह उपासक श्रमण धर्म का पालन करने वाला हो अथवा श्रावक धर्म का पालन करने वाला हो; दोनों के लिए पूजा विधेय है, दोनों को पूजा करनी चाहिए। अन्तर केवल इतना है कि श्रावक अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार द्रव्य के माध्यम से पूजा करता है। वह द्रव्य सावद्य, परिशुद्ध, प्रासुक और मर्यादित हो।

'श्रमण' की पूजा का स्वरूप इससे भिन्न है। हाथ जोड़ना, सिर झुकाना, मधुरकंठ से स्तुति-वचनों का उच्चारण करना और मन में तद्नुरूप शुद्ध भाव रखना—यह उनकी द्रव्य पूजा है। और आत्मा की परिणति पूज्य के प्रति समर्पित रूप होना यह भाव-पूजा है। गुणों की प्राप्ति की तीव्र आकांक्षा भावपूजा है। इस दृष्टि से पूजा श्रावक भी करता है और श्रमण भी।

श्रावक कभी चावल से, कभी अभिषेक-शांतिधारा द्वारा तो कभी आरती से, कभी नैवेद्य से, कभी पुष्पों से और कभी सुमिष्ट फलों से पूजा करता है। श्रावक के लिए निर्दोष द्रव्य पूजा की सामग्री हो सकती है किंतु श्रमण के लिए अपनी क्रियाओं के माध्यम से अपने भावों को निर्मल बनाना ही उसकी भावसहित पूजा है।

महानुभाव! अब प्रश्न यह है कि पूजा क्यों करें? पूजा की आवश्यकता क्या है? श्रावकों के लिए पूजा का फल है इहलोक-सुख, परलोक-सुख, दुःखों का विनाश, मोक्षमार्ग की संप्राप्ति। पूजा के प्रभाव से पापकर्मों की निर्जरा होती है, पुण्य का संचय होता है और उसके फलस्वरूप सांसारिक सुखों की प्राप्ति भी होती है। यहीं उस श्रावक की वास्तविक परीक्षा आरंभ होती है। यदि उन सुखों को प्राप्त करके भी वह विरक्त भाव से युक्त हो, सिद्धत्व को चाहता हो तो चक्रवर्ती आदि का वैभव छोड़कर दीक्षा ले लेता है और अंततः सिद्धत्व को प्राप्त करता है। श्रमण तो प्रत्यक्ष रूप से उसी सिद्धत्व-अवस्था को प्राप्त करने में समर्थ होता है। पूजा का लौकिक फल भौतिक वैभव हो सकता है, किंतु पारमार्थिक फल अरिहंत व सिद्ध अवस्था की प्राप्ति है।

महानुभाव! अब तक हमने चार बातें समझीं—पूज्य कौन, पुजारी कौन, पूजा क्या और पूजा का फल क्या? अब एक और महत्वपूर्ण प्रश्न है—पूजा कब की जाए, किस दिशा में

मुख करके की जाए और उसकी विधि क्या हो? आचार्य भगवन् उमास्वामी महाराज ने उमास्वामी श्रावकाचार में पूजा के संबंध में बहुत अच्छा विवरण किया है। उसमें बताया गया है कि पूजा तीनों संध्याकालों–प्रात:काल, मध्याह्नकाल और संध्याकाल में करनी चाहिए।

मुनिमहाराज सामायिक आदि के माध्यम से, देववंदना के द्वारा, प्रभुभक्ति के द्वारा, तीर्थंकर-स्तवन तथा अन्य केवली महापुरुष के स्तवन के माध्यम से पूजा-भक्ति करते हैं। तीनों संध्याकालों में पूजा करने से वह त्रिविध कर्म से मुक्त होता है–द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म।

प्रात:काल की पूजा विशेष रूप से अष्ट प्रकार के द्रव्यों से की जाती है, उसके पीछे अष्ट कर्मों को नष्ट करने की भावना निहित है। मध्याह्नकाल की पूजा भाव कर्मों से मुक्त होने के लिए सामायिक आदि के माध्यम से की जाती है तथा संध्याकाल की पूजा नो कर्मों का नाश करने के लिए, घृत के दीप द्वारा आरती आदि करके की जाती है। इस प्रकार देह से देहातीत अवस्था प्राप्त करने के लिए पूजक तीनों कालों में पूजा करता है।

प्रात:काल की पूजा करने से अधोलोक संबंधी भ्रमण नष्ट होता है, मध्याह्नकाल की पूजा मध्यलोक के भ्रमण से मुक्त करती है–अर्थात् भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष देव तथा तिर्यंच और मनुष्य आदि पर्यायों में होने वाले परिभ्रमण से

बचाती है। इसी प्रकार सायंकाल की पूजा वैमानिक स्वर्गों से भी ऊपर ले जाती है, यानी मोक्ष-सुख देने वाली होती है।

प्रात:काल की पूजन सूर्योदय के समय की जाती है। संभवत: वह सम्यक्त्व को दृढ़ता प्रदान करने वाली कही गई है। जैसे उदित होता सूर्य अंधकार को दूर करता है, वैसे ही प्रात:काल की प्रभु-पूजा मिथ्यात्व के अंधकार को हटाकर सम्यक्त्व की ज्योति को प्रखर करती है। मध्याह्न काल में की जाने वाली पूजा सम्यग्ज्ञान की वृद्धि करने वाली होती है तथा संध्याकाल में विशुद्ध परिणामों से की गई पूजा चारित्र को निर्मल बनाने वाली होती है। इस प्रकार त्रिकाल-पूजन में केवल तीन समयों का विधान ही नहीं, अपितु रत्नत्रय की आराधना का भाव भी समाहित है। पूजन के संबंध में अन्य अनेक प्रकार की भावनाएँ भी भाई जा सकती हैं।

आचार्य भगवन् अमितगति स्वामी ने तीनों संध्याकालों में पूजन की विधि एवं उसके फल का निरूपण करते हुए कहा है-

पूर्वाह्ने हरते पापं, मध्याह्ने कुरुते श्रियम्।
ददाति मोक्षं सन्ध्यायां, जिनपूजा निरन्तरम्॥2/62॥ (अ.श्रा.)

जिनेन्द्र भगवान की पूजा किस प्रकार फल प्रदान करती है? **'पूर्वाह्ने हरते पापं'** अर्थात् दिवस के पूर्व भाग में, प्रात:काल सूर्य का उदय होते ही जो पूजन किया जाता

है, वह पापों का नाश करने वाला होता है। ब्रह्ममुहूर्त के पश्चात् किया गया पूजन, अभिषेक, शांतिधारा, जयघोष, स्तवन आदि पापों का नाश करने में निमित्त बनता है।

ऐसा नहीं है कि उस समय पुण्य का बंध नहीं होता अथवा सम्यक् निर्जरा नहीं होती; वह भी होती है। किन्तु प्रातःकाल जैसे ही सूर्योदय होता है, रात्रि का अंधकार स्वतः विलीन होने लगता है; उसी प्रकार प्रातःकाल जिनेन्द्र प्रभु रूपी सूर्य के दर्शन से पाप रूपी श्यामल कर्म भाग जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार बाह्य गगन में सूर्योदय होता है, उसी प्रकार जिनभक्ति की ऊर्जा के माध्यम से चैतन्य गगनांगण में भी सम्यक्त्व के सूर्य का उदय होता है। इसीलिए आचार्य भगवन् पूज्यपाद स्वामी जी ने अर्हत् भक्ति में कहा है–

श्रीमुखालोकनादेव श्रीमुखालोकनं भवेत्।
आलोकन-विहीनस्य तत्सुखावाप्तयः कुतः।।

श्रीजी का मुखावलोकन करने से भौतिक और पारमार्थिक दोनों प्रकार की लक्ष्मी की संप्राप्ति होती है। श्रीजी का मुखावलोकन किए बिना उस जीव के जीवन में सुख कहाँ? अर्थात् जैसे सूर्य के उदय के बिना सूर्य प्रकाश संभव नहीं है, वैसे ही श्रीजी का मुखावलोकन किए बिना श्रीजी की सम्पत्ति व श्रीजी का पद प्राप्त करना भी संभव नहीं है।

महानुभाव! प्रातःकाल की पूजा निःसंदेह चित्त को आह्लादित करती है और पापों का नाश करती है। जैसे-जैसे

पापों का भार कम होता जाता है, वैसे-वैसे आत्मा में सहज आनंद की अनुभूति बढ़ती जाती है; किंतु जैसे किसी कर्जदार के ऊपर बहुत बड़ा कर्ज था, जैसे-जैसे उसका कर्ज चुकता चला जाता है, वैसे-वैसे उसे आनंद आता चला जाता है, ऐसे ही भव्य जीव के पाप जैसे-जैसे नष्ट होते जाते हैं, उसे आनंद आता जाता है। अतः प्रातःकाल की पूजा पापों को नष्ट करने वाली और पुण्य को देने वाली होती है, इसीलिए प्रातःकाल की पूजन पर विशेष जोर दिया गया है।

नंदीश्वर द्वीप आदि में देवसमूह चारों सन्ध्याकालों में पूजन करते हैं; वहाँ दिन-रात का भेद नहीं होता। इसीलिए यहाँ भी जोर देकर कहा जाता है—भैया! प्रातःकाल पूजन अवश्य करो, न कर सको तो दर्शन करो, स्तुति-भक्ति करो। वह भी लघु पूजक के समान है। यदि तीनों संध्याकालों में पूजा संभव न हो तो दो समय प्रातःकाल और सायंकाल में अवश्य करो। और यदि परिस्थतिवश दो समय भी संभव नहीं हो, तो चौबीस घंटे में कम से कम एक बार प्रातःकाल जिनेन्द्र प्रभु के दर्शन-पूजन का नियम अवश्य रखो।

आज की युवा पीढ़ी कहती है—सुबह-सुबह समय ही कहाँ मिलता है? चलो, ना सही सुबह, संध्याकाल में दर्शन करने तो जाओ। इतना संकल्प तो लो कि यदि प्रातःकाल अभिषेक नहीं कर पाया तो संध्याकाल की आरती अवश्य करूँगा। जिस दिन अवकाश हो, उस दिन अभिषेक-पूजन

भी करो। हर बार परिस्थिति अनुकूल हो यह आवश्यक नहीं, किंतु जो विपरीत परिस्थिति में भी अपने नियम पर अडिग रहता है, वही वास्तव में धर्मात्मा कहलाता है।

आचार्य भगवन् ने कहा **'मध्याह्ने कुरुते श्रियम्'** मध्याह्न अर्थात् दोपहर की पूजन 'श्री'-लक्ष्मी और समृद्धि को देने वाली होती है। कभी-कभी लोग मजाक में कहते हैं–जिस लड़के की शादी नहीं हो रही हो, उसे अभिषेक-पूजन का नियम दिलवा दो, फिर लड़की वालों का आना-जाना प्रारंभ हो जाएगा। कई बार ऐसा देखने में भी आता है कि जो बालक नियमित पूजा-अभिषेक करता है तो लोग कहते हैं "लड़का बड़ा धर्मात्मा है", और कन्या पक्ष के लोग ऐसे संस्कारी परिवार की ओर सहज ही आकर्षित होते हैं, और विवाह का संयोग भी बन जाता है। पूजन करने से माना जाता है कि धनलक्ष्मी की प्राप्ति होती है अर्थात् व्यापार आदि भी अच्छा चलता है, कार्यों में सफलता मिलती है। कभी-कभी तो लोग विनोद में कहते हैं–अभिषेक-पूजन करके आए और इधर ग्राहकों की लाइन लग गई।

महानुभाव! यहाँ आचार्य महोदय मध्याह्नकालीन पूजा का फल बताते हुए कहते हैं कि उससे भौतिक सम्पत्ति और गृहलक्ष्मी की प्राप्ति होती है। केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी और समवसरण की विभूति भी मिलती है, इतना ही नहीं अरिहंतों के अनंतचतुष्टय प्राप्त होते हैं और आगे सिद्धत्व की गुणनिधि प्राप्त होती है।

पुनः आगे संध्याकालीन पूजन का महत्व बताते हुए कहा–**‘ददाति मोक्षं संध्यायाम्’** संध्याकाल में शांतचित्त होकर जब भगवान की प्रदीप आदि के माध्यम से पूजा करता है, मन एकाग्र कर तत्त्वचिंतन करता है तो वह संध्याकालीन पूजन भव्यजीवों को मोक्ष दिलाने में समर्थ होती है। संध्याकाल में नित्य ही पूजन करना चाहिए। समवसरण में तो आठों याम पूजन होती है। वहाँ धूपघट से सुगंधित वातावरण रहता है, जिससे नकारात्मक ऊर्जा नष्ट होती है, संक्रामक रोग नहीं होते। असंख्यात लोग भी वहाँ पहुँच जाएँ तो भी कोई रोग नहीं होता, अपितु रोगियों के रोग ही नष्ट हो जाते हैं।

आज वर्तमान में हमारे जिनमंदिर भी हमारे लिए समवसरण की तरह से हैं। मंदिर में जब धूप खेई जाती है, तो उस धुएँ से वातावरण सुगंधित होता है, नकारात्मक ऊर्जा पलायन कर जाती है, सकारात्मक ऊर्जा उत्पन्न होती है। दीप प्रज्ज्वलित करने से प्रकाश होता है, मन में प्रसन्नता और आनंद का संचार होता है। दीप ज्ञान का प्रतीक है, हर्ष, उल्लास और उमंग का भी प्रतीक है। दीपक के माध्यम से वंशवृद्धि और आरोग्य लाभ भी प्राप्त होता है। कोई रोगी हो, आप घर में गौघृत का दीप जलाओ, भगवान की आरती करो, जिससे छह माह में ठीक होने वाला वह रोगी भी एक माह में ठीक हो सकता है। गौघृत के दीप का बहुत बड़ा प्रभाव माना जाता है।

घृत के दीप से ऑक्सीजन-प्राणवायु भी निर्मित होती है। जिससे हमारे शरीर की रिपेयरिंग होती है और शरीर स्वस्थ रहता है। जब स्वस्थ शरीर रहता है तो मन भी निर्मल रहता है।

महानुभाव! जिनपूजा प्रतिदिन निरंतर करते रहना चाहिए। राजा-महाराज भी नित्य ही महामह पूजन किया करते थे, क्योंकि उन्हें कभी सूतक-पातक नहीं लगता था। सामान्य गृहस्थ को भी शुद्ध अवस्था में निरंतर जिनपूजन करना चाहिए। यही उस श्रावक के लिए आत्महित का मुख्य कारण है। इसे किए बिना कोई भी गृहस्थ व श्रावक अपने जीवन एवं आत्मा को पवित्र नहीं बना सकता, अपने पापों को नष्ट नहीं कर सकता है। इसलिए गृहस्थ और श्रावक को अपने जीवन में जिनपूजा के लिए निश्चित स्थान अवश्य रखना चाहिए। आज बस इतना ही।

।। श्री शान्तिनाथ भगवान की जय ।।

बड़ा बनने का रहस्य

महानुभाव! संसार का प्रत्येक जीव सुख और शांति चाहता है। संज्ञी हो या असंज्ञी, त्रस हो या स्थावर, देव हो या नारकी, तिर्यंच हो या मनुष्य, भोगभूमिज हो या कर्मभूमिज–सभी की आकांक्षा सुख की है। इसके साथ ही मनुष्य के भीतर एक और आकांक्षा बड़ी प्रबल होती है–मैं बड़ा बनूँ, मेरा व्यक्तित्व बड़ा हो, मेरी पहचान बड़ी हो। इसी आकांक्षा में वह ज्ञान, शक्ति, पद और प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहता है। कई बार बड़ा बनने के लिए छल-कपट भी करता है, मायाचारी भी करता है, अहंकार का पोषण करके अपने आपको बड़ा दिखाना चाहता है।

कई बार वह स्वयं को मात्र शब्दों से बड़ा कहता है, परंतु वह होता नहीं। वह दूसरों से कहलवाना चाहता है कि–'मैं बड़ा हूँ'। वह दूसरों पर अपनी छाप छोड़ना चाहता है। किन्तु वास्तव में बड़ा वह होता है, जिसमें बड़प्पन हो। मीठा वह है, जिसमें मिठास हो; उष्णता वह कहलाती है, जिसमें उष्णत्व हो; पुष्प वही है जिसमें सुगंध एवं सौंदर्य हो।

आत्मभूत लक्षण के बिना कोई वस्तु उस लक्षण से युक्त नहीं मानी जाती। यदि बड़े होने का आत्मभूत लक्षण बड़प्पन है, तो व्यक्ति अपने बड़प्पन से ही बड़ा माना जाएगा, स्वयं को बड़ा कहने या कहलवाने से नहीं। हर व्यक्ति बड़ा बनना

चाहता है। अपनी उपलब्धियों को दूसरों को दिखाना चाहता है। अभी कार्य किया नहीं, कर पाए या न कर पाए, पर मन में भावना यही रहती है कि मेरा प्रचार-प्रसार हो जाए।

बीज बोने के पहले किसान कर्ज लेकर आया। फिर उसने बीज बोया। बीज अंकुरित हुआ, पौधा भी बना। उसने खूब सिंचाई की, समय-समय पर रखवाली की और अंततः बहुत अच्छी फसल तैयार हो गई। किन्तु फसल जैसे ही खलिहान में पहुँची, वह व्यक्ति आ गया जिससे किसान ने कर्ज लिया था। उसने अपना हिसाब चुकाया और किसान की पूरी फसल लेकर चला गया। मेहनत किसान ने की, किन्तु मेहनत का फल दूसरे को मिला, क्योंकि किसान ने फसल बोने से पहले ही खा ली अर्थात् कर्ज के बदले गिरवी रख चुका था। ऐसे ही कई साधक भी होते हैं जो साधना तो बाद में करते हैं, किंतु प्रशंसा की आकांक्षा करके साधना करने से पहले ही उसके फल को चट कर जाते हैं।

कई साधक प्रशंसा सुनने के प्यासे होते हैं। कुछ करते नहीं, करना चाहते भी नहीं, किन्तु कार्य का सुफल अवश्य चाहते हैं। जैसे मृदुमति मुनिराज चातुर्मास करके आए और एक नगर के बाहर वन में बैठ गए। संयोग की बात थी कि उसी स्थान पर गुणनिधि मुनिराज ने चातुर्मास किया था। उन्होंने वर्षायोग-प्रतिष्ठापन से निष्ठापन तक चार माह का उपवास किया था। चातुर्मास के उपरांत गुणनिधि मुनिराज उस वन से विहार कर गए। लोगों में यही चर्चा थी कि

नगर के बाहर जो मुनिराज विराजमान हैं, वे गहन तपस्वी हैं; चार माह का उपवास किया है।

किन्तु उसी स्थान पर मृदुमति मुनिराज आकर विराजमान हो गए। लोग वहाँ आए और उनकी पूजन करने लगे। वे कहने लगे–''हे मुनिवर! आप धन्य हैं। आपने चार माह तक निराहार रहकर घोर तपस्या की है। धन्य है आपकी साधना।'' वे मुनिराज मन-ही-मन प्रसन्न होते रहे। कुछ बोले नहीं। एक बार भी यह नहीं कहा कि ''मैं मृदुमति हूँ, मैं वह गुणनिधि नहीं हूँ, जिन्होंने चार महीने उपवास किए।'' वे मन-ही-मन आनंद लेते रहे कि पूर्व पुण्य से आज प्रशंसा मिल रही है। किन्तु उस छल-कपट और मायाचारी के कारण भरत चक्रवर्ती के त्रिलोकमण्डल नामक हाथी हुए और तिर्यंच अवस्था को प्राप्त हो गए।

महानुभाव! ऐसा छल-कपट और मायाचारी क्यों करना? ये मान-सम्मान सदा नहीं रहता, पूजा-प्रतिष्ठा सदा नहीं रहती और सत्ता-प्रभुत्व भी सदा नहीं रहता। ये सब कर्म के उदय से प्राप्त होते हैं और कर्म के उदय से ही नष्ट भी हो जाते हैं। आचार्य भगवन् कहते हैं–यदि आपको बड़ा बनना है तो बड़े बड़प्पन से बनो; तब तुम्हें कोई छोटा नहीं कर सकेगा। यदि केवल बाह्य रूप से बड़े बन गए तो वास्तव में बड़े नहीं बन पाओगे, धराशायी हो जाओगे।

चलो, अब ऐसे सूत्रों की ओर चलते हैं, जिनसे हम वास्तव में बड़े बन सकें। संसार में यदि समस्याएँ हैं तो

उनके समाधान भी हैं; यदि कोई प्राप्तव्य लक्ष्य है तो उनके मार्ग भी है और यदि कोई प्रश्न है तो उसका उत्तर भी अवश्य है।

चलो चलते हैं, आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व आचार्य भगवन् तिरुवल्लुवर स्वामी जी के चरणों में—जिन्होंने तमिल प्रान्त में जन्म लिया था। उन्होंने 'तिरुक्कुरल' नाम का ग्रंथ लिखा, जिसे आज भी दक्षिण भारत में पंचम वेद के नाम से जाना जाता है, उसमें उन्होंने बड़ा बनने का सुंदर सूत्र दिया—

नीचत्वं ननु नीचत्वमुपकारस्य विस्मृतिः।
भद्रत्वं खलु भद्रत्वमपकारस्य विस्मृतिः॥ 108॥ (तिरुक्कुरल)

आचार्य भगवन् ने इस छोटे से सूत्र में बहुत बड़ी बात कह दी है। लोक में कहा जाता है—

सतसैया के दोहरे, ज्यों नाविक के तीर।
देखन में छोटे लगें, घाव करें गंभीर॥

आचार्य भगवन् के सूत्र भी ऐसे ही हैं—जैसे सरसों के दाने में या सूई की नोक में छेद करके मानों क्षीर-समुद्र को भर दिया हो। अल्प शब्दों में बहुत बड़ा विषय समाहित कर दिया। पहले लोग चिट्ठी लिखते थे और अंत में लिखते थे—'थोड़ा लिखा, बहुत समझना।' ऐसे ही आचार्य महाराज सूत्र में थोड़ा कह रहे हैं किंतु उसे विस्तार में यदि जिंदगी भर भी कहेंगे, तब भी विस्तार पूरा नहीं हो पाएगा।

आचार्य भगवन् कहते हैं–नीच कौन है? अधम कौन है? नीच–अधम वह है जो नीचता के कार्य करता है; जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह में रत है; जो क्रोधी, अहंकारी, मायाचारी और लोभी है। नीच वह है, जो निरंतर आहार, भय, मैथुन और परिग्रह चार प्रकार की संज्ञाओं के वशीभूत होकर जीवन जीता है; जो न्याय–अन्याय का विचार किए बिना, केवल अपने मंतव्य और स्वार्थ की पूर्ति में लगा रहता है।

किन्तु आचार्य महाराज इससे भी आगे एक अत्यंत सूक्ष्म कसौटी देते हैं–नीच से भी महानीच कौन हैं? जो 'उपकारस्य विस्मृतिः' अपने प्रति किए गए उपकार को भूल जाता है। संसार में सबसे बड़ा पापी वही है, जो उपकार को याद नहीं रखता और उपकार का प्रत्युत्तर अपकार के रूप में देता है। आचार्य श्री जिनसेन स्वामी जी ने हरिवंश पुराण में कहा है–**'एकाक्षर प्रदातारं'** अर्थात् एक अक्षर का ज्ञानदान देने वाले गुरु को भी जो भूल जाता है, वह कृतघ्न है, पापी है और दुष्ट है। चाणक्य ने भी नीतिशास्त्र में लिखा है–

एकाक्षर - प्रदातारं, यो गुरुं नाभिवन्दते।
श्वानयोनिशतं गत्वा चाण्डालेष्वभिजायते।।13/20

जो अपने उपकारी का उपकार नहीं मानता, एक अक्षर का ज्ञानदान देने वाले के प्रति भी कृतज्ञता का भाव नहीं रखता, वह सौ जन्मों तक कुत्ता होता है और फिर चाण्डालों में पैदा होता है। ऐसे व्यक्ति को चाणक्य ने कृतघ्न कहा है।

नीतिकार कहते हैं–

न भाराः पर्वताभारा न भाराः सप्तसागराः।
निन्दका हि महाभारा, तथा विश्वासघातकाः॥

किसी सज्जन ने पृथ्वी से पूछा–तुम क्यों रोती हो? वह बोली–मेरे ऊपर बहुत बोझ है। सज्जन ने कहा–माँ! तुम ठीक कहती हो। आपके ऊपर इतने विशाल-विशाल पर्वत हैं, उनका भार आपको लगता होगा; इतने बड़े-बड़े सागर हैं, उनका बोझ भी तुम्हारे ऊपर है, इसलिए आपको कष्ट होता होगा। तब वह धरती कहने लगी–नहीं भद्र पुरुष! मुझे पर्वतों का भार, भार नहीं लगता, उससे मुझे पीड़ा नहीं हो रही और न ही ये विशाल समुद्र मेरे लिए भार रूप हैं। फिर कौन भार है? **'निन्दका हि महाभारा तथा विश्वासघातकाः'**। 'जो अपने गुरु की निंदा करता है, अपने धर्म की निंदा करता है, जो अपने साधर्मी बंधु की निंदा करता है, अपने आयतनों की निंदा करता है और जो जिस थाली में खाता है, उसी में छेद करता है–वास्तव में ऐसा निंदक ही इस पृथ्वी पर भार है। उसके भार से मैं दुःखी हूँ। इसी प्रकार जो व्यक्ति विश्वासघात करता है, उसका बोझ भी मुझसे सहा नहीं जाता। इनके बोझ से मुझे पीड़ा हो रही है। ऐसे महापापी, कृतघ्न व्यक्ति को आचार्य तिरुवल्लुवर स्वामी जी ने महानीच कहा।

महानुभाव! उन्होंने बड़ा किसको कहा? इसका सूत्र देते हुए कहा–'भद्रत्वं खलु भद्रत्वमपकारस्य-विस्मृतिः'

भद्र में भी भद्र, श्रेष्ठ में भी श्रेष्ठ, महापुरुष में भी महापुरुष और उच्च में भी उच्च वह है, जो अपने प्रति किए गए अपकार को भूल जाता है। जिसने उसे पीड़ा-कष्ट दिया, उसके प्रति भी प्रतिशोध का भाव न रखकर उपकार की भावना रखता है। वास्तव में वही बड़ा है। अपकार को स्मरण रखकर प्रतिकार करना सहज है, किन्तु अपकार को विस्मृत कर उपकार की भावना रखना ही बड़प्पन है।

तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ स्वामी, जिन पर कमठ नाम के (पूर्व पर्याय की अपेक्षा नाम) दुष्ट जीव ने घोर उपसर्ग किया। पूर्व के नौ भवों में भी उसने उन्हें खूब पीड़ा दी। महामुनि पार्श्वनाथ अनेक ऋद्धियों से सहित थे। चाहते तो आशीर्विष आदि अनेक ऋद्धियों के माध्यम से यदि आँख उठाकर देख भी लें तो कमठ क्या ऐसे हजारों जीवों को क्षणभर में भस्म कर सकते थे;, किन्तु उन्होंने अपकारी का किंचित् भी अपकार नहीं किया। वरन् आत्मसाधना में लीन होकर केवल्यज्ञान को प्राप्त कर लिया।

पार्श्वनाथ भगवान महापुरुष थे, इसीलिए वे अधम पुरुष जैसी चेष्टा नहीं कर सकते थे।

महानुभाव! महान में भी महान, भद्र में भी भद्र, आदर्शों में भी आदर्श वह है, जो अपने अपकारी के प्रति भी उपकार करने का भाव रखता है। अपकारी अपने स्वभाववश अपकार करता है किन्तु उपकारी उसके प्रत्युत्तर में भी उपकार ही करता है। वह दूसरे के दुर्व्यवहार के कारण अपने सद्भाव और सदाचरण को नहीं छोड़ता।

एक साधक नदी के किनारे तपस्या कर रहा था। तभी उसने देखा कि झाड़ी पर से एक बिच्छू नदी में गिर पड़ा और डूबने लगा। महात्माजी को दया आई, उन्होंने सोचा–यदि इसे नहीं बचाया तो यह डूबकर मर जाएगा। वे उसे बचाने के लिए आगे बढ़े, नदी में हाथ डाला और बिच्छू को हथेली पर उठा लिया, किन्तु बिच्छू ने तुरंत महात्माजी को डंक मार दिया। पीड़ा से हाथ हिला और बिच्छू पुनः नदी में गिर गया।

महात्माजी ने फिर नदी में हाथ डाला और बिच्छू को उठा लिया। बिच्छू ने पुनः डंक मारा वह फिर पानी में जा गिरा। तीसरी बार भी महात्माजी ने उसे बचाने के लिए हाथ बढ़ाया।

लगातार यह सब देख रहा व्यक्ति अपने को रोक न सका। उसने कहा—महात्माजी! यह बिच्छू आपको बार–बार डंक मार रहा है और आप है कि इसे बचा रहे हैं। यह दुष्ट अपना स्वभाव नहीं छोड़ेगा। मरता है तो इसे मरने दीजिए। महात्माजी मुस्कुराए—"अरे भाई! यही तो विचार करने की बात है। यह तीन इन्द्रिय बिच्छू होकर अपने स्वभाव को नहीं छोड़ रहा है। तो मैं संज्ञी पंचेन्द्रिय साधु होकर अपना स्वभाव कैसे छोड़ दूँ? इसका स्वभाव डंक मारना है और मेरा स्वभाव दया करना है।

महानुभाव! क्षुद्र व्यक्ति का स्वभाव क्षुद्र है और बड़े व्यक्ति का स्वभाव क्षमा। यदि बड़ा व्यक्ति भी सामने वाले के व्यवहार के अनुरूप tit for tat जैसे को तैसा—का

व्यवहार करने लगे, तो फिर दोनों में अंतर ही क्या रह जाएगा?

महानुभाव! सहन करना ही तपस्या है। सोलह या बत्तीस उपवास कर लेना मात्र तपस्या नहीं है। यदि उन उपवासों के साथ समता भाव नहीं है, यदि उनके पीछे प्रतिष्ठा और ख्याति पाने की आकांक्षा है तो। तपस्या का वास्तविक प्रयोजन कहाँ सिद्ध हुआ? तपस्या तो समता परिणाम का नाम है। कहा भी है–'इच्छानिरोधस्तप:' इच्छाओं का निरोध करना तप है। यहाँ भी यही बता रहे हैं कि भद्र वह है जो अपकारी का भी उपकार करे। क्योंकि क्षमा तभी सार्थक है, जब क्षमा करने का कोई कारण उपस्थित हो; और समता की पहचान भी तभी होती है, जब सामने विषमता खड़ी हो।

दो सहेलियाँ थीं। दोनों का विवाह हो गया। उनमें से एक बाल्यावस्था से ही दुष्ट स्वभाव की थी और दूसरी भद्र स्वभाव की। जो अच्छे स्वभाव की थी, पुण्योदय से उसका विवाह भी अच्छे परिवार में हुआ।

एक बार दोनों सहेलियाँ मिलीं। पहली ने पूछा–बहिन! तुम कैसी हो?'' भद्र स्वभाव वाली ने कहा–''मैं बहुत खुश हूँ, अच्छी हूँ।'' दुष्ट स्वभाव वाली बोली– विश्वास नहीं होता। मैं तेरे घर जाकर पहले देखूँगी कि तू ठीक कह रही है या झूठ बोल रही है।'' इतना कहकर वह उसके घर पहुँच गई। वहाँ जाकर उसने देखा कि उसकी सहेली का

परिवार वास्तव में बहुत अच्छा है। ससुराल वालों ने उसका खूब सम्मान किया और नाना प्रकार के व्यंजन खिलाए।

कुछ समय बाद वे दोनों पुनः एक मेले में मिलीं। दुष्ट स्वभाव वाली ने कहा–''चल बहिन! आज मेरे घर चल, मेरा घर पास में ही है।'' यूँ तो उसका मन नहीं था कि उसके घर कोई आए किन्तु बेमन से उसे ले गयी।

सहेली घर आई, लेकिन उस दुष्टा ने न तो पानी के लिए पूछा, न बैठने को कहा। बेचारी शिष्ट सखी चुपचाप खड़ी रही। थोड़ी देर बाद दुष्ट सखी कहने लगी–''अरे! अब खम्भे की तरह क्यों खड़ी है, जा, अपने घर को। देख लिया मेरा घर, अब जा यहाँ से।

उसका व्यवहार देखकर उसे लगा तो बड़ा खराब, एक क्षण के लिए मन में आया–यदि कभी यह मेरे घर आएगी, तो मैं भी इसे सबक सिखाऊँगी। जैसा व्यवहार इसने मेरे साथ किया है, वैसा ही इसके साथ करूँगी। किन्तु दूसरे ही क्षण उसके भीतर के संस्कार जाग उठे। उसने अपने आपको सँभाला और सोचा–''नहीं भगवान! मैं ऐसा नहीं कर सकती। दूध दूध होता है, और छाछ छाछ। यदि दूध भी छाछ जैसा व्यवहार करने लगे, तो फिर दूध की विशेषता ही क्या रही? मैं दूध हूँ; मुझमें खटास नहीं आएगी। मैं अपने शिष्ट स्वभाव को नहीं छोड़ूँगी, भले ही उसने मेरे साथ गलत व्यवहार किया हो।

महानुभाव! महापुरुष वे होते हैं जो दूसरों की सैकड़ों गलतियों को भी भूल जाते हैं और दुष्ट पुरुष वे होते हैं जो दूसरों के द्वारा किए गए सैकड़ों उपकारों को भी भूल जाते हैं। यही तो दोनों में अंतर है। शरीर की ऊँचाई, वर्ण अथवा कद-काठी से कोई अधम नहीं होता; व्यक्ति अधम अपने व्यवहार और भावों से होता है। हमारा जैन सिद्धान्त तो उपकारों के वृत्तान्तों से भरा पड़ा है।

जब पार्श्वनाथ भगवान पर उपसर्ग आया तो कौन आया? वे नाग-नागिन का जोड़ा, जिन्हें कुमार पार्श्वनाथ ने वनविहार के समय तापस द्वारा जलते लक्कड़ से निकाला था और महामंत्र सुनाया था। वे नाग-नागिन मृत्यु के निकट थे। लोग कहते हैं—तीर्थंकर णमोकार मंत्र नहीं पढ़ते। कौन कहता है नहीं पढ़ते? सिद्धों की साक्षी में दीक्षा लेते हैं। प्रत्यक्ष में मुनि आदि को नमस्कार नहीं करते—यह बात सत्य है।

लोग तो यह भी कहते हैं कि सर्प के कान ही नहीं होते। लोगों के कैसे मिथ्यात्व का उदय हो गया, कैसी अज्ञान दशा हो गई कि सर्प के कान नहीं होते! पूछा—भैया! तुम्हें किसने बताया? बोला—"मैंने सपेरे से सुना था। उसने बताया कि सर्प के कान नहीं होते।" भैया! तुम्हारे लिए वह सपेरा ही केवली हो गया क्या? ऐसा नहीं है। जिनेन्द्र प्रभु की बात मानो, सपेरे की बात मत मानो। जो बनना चाहते हो, उसकी बात मानो।

वे सर्प–युगल, जिनके कर्ण थे, उन्होंने महामंत्र सुना और मरकर पद्मावती–धरणेन्द्र हुए। जब भगवान पर उपसर्ग हुआ, तब वे अवधिज्ञान से जानकर अपने परम उपकारी के पास आए। पद्मावती ने अपनी विक्रिया से फण फैलाकर महामुनि को ऊपर उठा लिया, क्योंकि नीचे पानी लबालब भर गया था और पत्थर–कंकड़ बरस रहे थे। स्त्रियों में ममत्व भाव अधिक होता है, इसलिए पद्मावती ने तुरंत प्रभु को ऊपर उठा लिया और बरसते ओलों–शोलों को रोकने के लिए धरणेन्द्र ने फण मण्डप की रचना कर, प्रभु के ऊपर ऐसा छत्र लगा दिया कि भगवान के ऊपर पानी की एक बूँद भी न आ सके। यह था अपने उपकारी के उपकार का प्रत्युपकार।

आचार्य महावीरकीर्ति जी मुनिराज पर महसाना, गुजरात में दुष्टों ने उपसर्ग किया। वे लाठी–डंडे से प्रहार करने लगे। उनके संघ सेवक से रहा नहीं गया, वह सामने आ गया और लाठियों का प्रहार अपने ऊपर सहन किया, किंतु महाराज पर आँच नहीं आने दी। संयोग से उसी समय पुलिस की गाड़ी वहाँ से निकल रही थी, पुलिस ने देखा कि कुछ दुष्ट लोग लाठियों से प्रहार कर रहे हैं, वो उन सभी को ले गई और थाने में जाकर बंद कर दिया और उनकी खूब पिटाई की। दूसरे दिन महाराज ने उपवास आदि किया और कहा–"भाई! उन्हें छोड़ दो।" देखो, महान पुरुषों की महानता कैसी होती है, वे अपने ऊपर किए गए प्रहार को भी क्षमा में बदल देते हैं।

एक बार आचार्यश्री शिखरजी में थे। एक भील भाला लेकर उन्हें मारने आया। महाराज तो साधना में खड़े थे, खड़े ही रहे। वह उन्हें अपशब्द बोलता रहा, किन्तु वे समता की मूर्ति बने रहे। कुछ क्षण बाद उसी भील ने भाला फेंक दिया और उनके चरणों में साष्टांग प्रणाम करने लगा। ‘‘वह भील उनका परम भक्त बन गया, कहने लगा–ये साधु नहीं, वरन् धरती के देवता हैं।’’

वास्तव में महापुरुषों की महानता मुख से कहने से नहीं बल्कि उनकी चर्या से, क्रिया से, भावों से और वचनों से स्वतः व्यक्त हो जाती है। पुष्प कभी नहीं कहता कि मेरे अंदर सुगंध है, किन्तु उसकी सुगंध स्वयं सर्वत्र फैल जाती है।

महानुभाव! ऐसे कितने ही उदाहरण हैं। एक बार चारुदत्त ने वन में अमितगति नामक विद्याधर को वृक्ष में कीलों से जकड़ा हुआ देखा। उनके नेत्र संकेत को समझकर उसने वहाँ रखी चालन, उत्कीलन और व्रणसंरोहणी–इन तीन दिव्य औषधियों का प्रयोग किया। उनके प्रभाव से अमितगति की जड़ता दूर हुई, कीलों का बंधन छूटा और उसके घाव भी भर गए। इस प्रकार चारुदत्त ने संकटग्रस्त अमितगति को जीवनदान–सा दिया।

कालांतर में चारुदत्त व्यापार के लिए निकले। समुद्री यात्रा में अनेक विपत्तियाँ सहते हुए वे कुंभकंटक द्वीप के कर्कोटक पर्वत पर पहुँचे, जहाँ एक मुनिराज को देखकर

उन्होंने वंदना की। मुनिराज ने उन्हें पहचानकर बताया–''मैं वही अमितगति विद्याधर हूँ, जिसे तुमने कभी संकट से मुक्त किया था।'' अमितगति अब राज्य अपने पुत्रों को सौंपकर मुनि बन चुके थे।

उसी समय उनके दोनों पुत्र वहाँ आए। पिता से चारुदत्त के उपकार का परिचय पाकर उन्होंने उनका अत्यंत सम्मान किया। तभी वहाँ दो देव भी आए और उन्होंने मुनिराज से पहले चारुदत्त को नमस्कार किया। पूछने पर एक ने बताया–''पूर्वभव में मैं बकरे की पर्याय में था। मृत्यु के समय चारुदत्त ने मुझे पंचनमस्कार मंत्र और जिनधर्म का संस्कार दिया था। उसी धर्मप्रभाव से मुझे देवपर्याय प्राप्त हुई। इसलिए चारुदत्त मेरे धर्मोपकारी हैं।''

दूसरे देव ने कहा–''पूर्वभव में मैं वही मरणासन्न वणिक् था, जो रसकूप में पड़ा था। उस कठिन समय में चारुदत्त ने मुझे समीचीन धर्म का उपदेश दिया था। उस धर्मप्रभावना के प्रभाव से मुझे भी देवगति प्राप्त हुई। अतः ये मेरे भी उपकारी हैं।''

इस प्रकार अमितगति के पुत्रों ने पिता पर किए गए उपकार को और दोनों देव ने अपने ऊपर किए गए धर्मोपकार को स्मरण रखा। समय और पर्याय बदल गए, पर उपकारी की स्मृति नहीं बदली।

पद्मरुचि सेठ ने मरणासन्न बैल को णमोकार मंत्र सुनाया,

जिसके प्रभाव से वह बैल राजकुमार हुआ। पुनः वह सुग्रीव हुआ और आगे चलकर वह पद्मरुचि सेठ राम हुए। पूर्व भव के उपकार का स्मरण होते ही सुग्रीव ने रामचंद्र जी की सेवा और सहायता की।

आपने रात्रिभोजन-त्याग की कथा पढ़ी होगी। जागरा नाम की एक महिला थी, जिसने रात्रिभोज का त्याग किया था। जिसके प्रभाव से वह मरणकर नागश्री हुई। जब उसकी सौत ने कुत्ते पर उबलता हुआ तेल डाल दिया, तब उसने कुत्ते को धर्म उपदेश दे णमोकार मंत्र सुनाया, जिससे कुत्ता मरकर यक्ष बना। जब उसका पति विदेश से लौट रहा था, तब उसका जहाज डूबने लगा। इस यक्ष ने उसे पार लगाया, उसकी रक्षा की और धन देकर सम्मान भी किया। उससे पूछा-''भाई! आप कौन हो?'' वह बोला-मैं आपका वही मोती कुत्ता हूँ, जिसे आपकी पत्नी ने रात्रिभोजन का त्याग कराया, मुझे णमोकार मंत्र सुनाया था। उसके प्रभाव से मैं यक्ष बना हूँ और आज आपके उपकार का ऋण चुकाने उपस्थित हुआ हूँ।

महानुभाव! महापुरुष वास्तव में अपने उपकारी को भूलता नहीं और अपकारी के अपकार को याद नहीं रखता। बड़प्पन आता कब है? जब व्यक्ति अपने प्रति किए गए अपकार को भी भूलना सीख जाए। वही वास्तव में बड़ा बन सकता है, श्रेष्ठ हो सकता है और वही भगवान बन सकता है। अगर आपके मन में भी बड़ा बनने का भाव है तो **बड़े**

बड़प्पन से बनो। दूसरों की बुराइयों को और गलतियों को क्षमा करके बड़े बनो; और यदि किसी ने तुम्हारा उपकार किया है, तो उसे कभी भूलो मत। उपकार अवश्य चुकाओ; यही बड़े बनने का और आदर्श बनने का शाश्वत सूत्र है। यही सूत्र पहले भी था और भविष्य में भी रहेगा। आज की युवा पीढ़ी कहती है–अरे! कौन आदर्श, कौन बड़ा? कुछ नहीं होता अच्छाई-भलाई से। किन्तु जब ठोकर लगती है, तब समझ में आता है कि सत्य तो सत्य है, अच्छाई तो अच्छाई है, बुराई तो बुराई ही है।

आप भौतिक शिक्षा प्राप्त करके, युवावस्था पाकर और अच्छा पैकेज प्राप्त करके यदि अहंकार में आकर मानवता को भुला दें, उपकारी के उपकार को भूल जाएँ, अपनी मर्यादा का त्याग कर सदाचार से विमुख हो जाएँ तो निःसंदेह आप अपनी आत्मा को धोखा दे रहे हैं। यह छल-कपट कभी अभिशाप बनकर सामने आता है, तो कभी छाले बनकर उभरता है। अतः जो अच्छाई है, वह अच्छाई ही थी, है और रहेगी; बुराई कभी अच्छी नहीं हो सकती।

हमेशा ध्यान रखो कि हमारी प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक वचन और प्रत्येक मनोभाव को हमारी आत्मा जानती है और सर्वज्ञ परमात्मा जानते हैं। फिर उसे किससे छिपाओगे? जो करोगे, जो सोचोगे, जो कहोगे, उसी के अनुरूप कर्म बंध होगा और वैसा ही फल प्राप्त होगा।

अतः सदैव कर्म–सिद्धान्त को स्मरण रखो और महापुरुषों के जीवन–चरित्र को अपने आचरण में उतारने का प्रयास करो। जिससे आप भी महान बन सकें, श्रेष्ठ बन सकें और आदर्श बन सकें। आज बस इतना ही।

॥ श्री शान्तिनाथ भगवान की जय ॥

चार कदम भीतर की ओर

महानुभाव! जीवन इन्द्रधनुष की तरह से बहुरंगी है। जीवन में कभी मिथ्या सुखानुभूति होती है, तो कभी दु:खानुभूति; कभी जीवन संक्लेशता से युक्त होता है, तो कभी व्यक्ति अपने जीवन को आनंद से परिपूर्ण मानता है। कभी किसी उपलब्धि से गर्वित हो जाता है, तो कभी किसी असफलता से निराश, हताश और उदास हो जाता है। इसी का नाम जीवन है।

किसी भी नदी या समुद्र का जल शान्त नहीं रहता। कभी उसमें लहरें उठती हैं, तो कभी गिरती हैं; कभी भंवर पड़ जाती है, तो कभी वही जल शांत दिखाई देता है। कभी नदी बाढ़ का विकराल रूप धारण कर लेती है, तो कभी शांतचित्त योगी की तरह निश्चल दिखाई देती है। कभी उसमें इतनी शुष्कता आ जाती है, मानो धर्मध्यान में रत व्यक्ति के पापों में कमी आ गई हो।

महानुभाव! आज जीवन के चार सूत्रों पर वार्ता करते हैं। संभव है ये चार सूत्र आपके जीवन के लिए उपयोगी सिद्ध हों। ये चार बातें आचार्य भगवन् वीरनंदि स्वामी जी ने चन्द्रप्रभ चरित्र में कही हैं। आज हम उन्हीं को समझने का प्रयास करेंगे। उन्होंने कहा–

न परं बन्धनं प्रेम्णो न विषं विषयात्परम्।

न कोपादपरः शत्रुर्न दु:ख जन्मनः परम्।।15/143।।

संसार में अनेक प्रकार के बंधन दिखाई देते हैं। किसी को धागे से बांधा जाता है, किसी को रस्सी से, किसी को कपड़े की पट्टी से, किसी को वायर से, किसी को दीवारों के बीच बंद कर दिया जाता है, तो किसी को लोहे की श्रृंखलाओं अथवा जंजीरों का से बाँधा जाता है। इस प्रकार बंधन के अनेक रूप हैं।

पशुओं में गाय, भैंस, बैल आदि को रस्सी से बाँधा जाता हैं, गधे आदि के पैरों में बेड़ी लगाई जाती है, घोड़े पर लगाम लगाई जाती है। ऊँटों को नकेल डालकर, हाथी को अंकुश से और कभी लोहे की मोटी सांकलों से वश में किया जाता है। पक्षियों को पिंजरे में बंद कर दिया जाता है। किसी मनुष्य को ऊँची दीवारों के मध्य बने कारागार में बंद किया जाता है, तो किसी को सौगंध आदि खिलाकर बंधन में डाल दिया जाता है।

सर्प आदि के सम्मुख यदि लकीर या घेरा खींच दिया जाए, तो वह उसके बाहर नहीं जाता है; वह उसी को अपना बंधन मानता है। वह भले ही मृत्यु को प्राप्त हो जाए, किन्तु उस बंधन को पार नहीं करता।

किन्तु महानुभाव! इन बाहरी बंधनों से भी अधिक सूक्ष्म और दृढ़ कुछ आंतरिक बंधन होते हैं। उनमें मोह का बंधन अत्यंत विशेष है। मोह के कारण व्यक्ति बार-बार उसी घर, उसी स्थान और उन्हीं परिचित परिस्थितियों की ओर लौटता है। केवल मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षियों में भी यह मोह दिखाई देता है। कई बार पालतू पशु कहीं चले जाएँ, गुम हो जाएँ अथवा कोई उन्हें दूर ले जाए, तो अवसर मिलते

ही वे पुनः अपने परिचित स्थान पर आ जाते हैं। उन्हें कोई लौटाकर नहीं लाया, न किसी ने उन पर चाबुक या लाठी से प्रहार किया; फिर वे वापस कैसे आ गए? क्योंकि उस स्थान के प्रति उनका मोह का संस्कार था, जो उन्हें वहाँ खींच लाया।

महानुभाव! राजुल और नेमिनाथ भगवान नौ भव तक साथ रहे, तो वे किस बंधन से बंधे थे? वह था राग और मोह का बंधन। यह बंधन अत्यंत सूक्ष्म और बड़ा खतरनाक होता है। दृश्यमान बंधन को तो कोई भी खोल सकता है। कोई व्यक्ति साँकल, जंजीर या रस्सी से बँधा अथवा हथकड़ी-बेड़ी में जकड़ा हो, तो चाबी या हथौड़े की सहायता से उसकी बेड़ी, सांकल अथवा रस्सी तोड़ी जा सकती है। कोई मकान में बंद हो तो ताला खोला या तोड़ा जा सकता है, क्योंकि स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि अमुक व्यक्ति बंधन में है।

बाह्य बंधनों को तोड़ने में दूसरा व्यक्ति भी सहयोगी हो सकता है, किन्तु अंतरंग के बंधनों को तोड़ने में बाह्य व्यक्ति सहयोगी कैसे होगा? अंतरंग के बंधन दिखते भी तो नहीं हैं। यदि कोई त्यागी-व्रती होकर भी राग-द्वेष और मोह के बंधन से बंधा है, तो वह बंधन किसे दिखाई देगा? किसी को नहीं।

यही कारण है कि बाहरी बंधनों से मुक्त होना अपेक्षाकृत सरल है, किन्तु भीतर के बंधनों को पहचानना और उनसे मुक्त होना अत्यंत कठिन है।

उत्तरपुराण में आचार्य गुणभद्र स्वामी जी ने एक प्रसंग बताया है–श्वेतवाहन मुनिराज जो पूर्व में बहुत पराक्रमी राजा थे। उन्होंने अपने राज्य का खूब विस्तार किया। राज्य अवस्था में एक पड़ोसी शत्रु राजा उन्हें बहुत परेशान करता था, उन्होंने उस शत्रु राजा को कई बार पराजित किया, किन्तु वह प्रत्येक बार क्षमा माँगकर चला जाता। राजा श्वेतवाहन भी उसे बार-बार क्षमा कर देते।

राज्य करते हुए किसी दिन प्रबल निमित्त पाकर उन्हें वैराग्य हुआ। उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली और गहन तपस्या करने लगे। उत्तम क्षमा आदि दस धर्मों के प्रति उनकी गहन रुचि थी। धीरे-धीरे ये दस धर्म उनके जीवन की पद्धति ही बन गए। प्रत्येक क्षण दसधर्म उनके अंदर परिलक्षित होते थे। इसलिए उनका नाम 'धर्मरुचि' हो गया था।

एक दिन धर्मरुचि मुनिराज जंगल में वृक्ष के नीचे बैठकर तपस्या कर रहे थे। संयोगवश जिस देश के वे राजा थे, उसी देश के कुछ महानुभाव वहाँ से निकले। वे सभी भगवान महावीर स्वामी के समवसरण की ओर जा रहे थे। मार्ग में उन्होंने मुनिराज को देखा, भावसहित वंदना की, नमोस्तु निवेदित किया और पुनः आगे बढ़ गए।

उसी समूह में से एक व्यक्ति कहने लगा–"अरे! ये यहाँ तपस्या कर रहे हैं और अपने छोटे से पुत्र विमलवाहन को राज्य देकर चले आए हैं।

जिस शत्रु राजा को इन्होंने पूर्व में इतनी बार क्षमा किया, उसने आज राजकुमार को छोटा जानकर उस पर चढ़ाई कर दी है। दोनों के बीच भयंकर युद्ध चल रहा है। न जाने इनका बेटा बचेगा भी या नही।''

ये शब्द सुनते ही मुनिराज के मन में पुत्र के प्रति राग उमड़ पड़ा। चिंता ने उन्हें घेर लिया–''मेरे पुत्र पर इतना बड़ा संकट! उस पड़ौसी राजा को मैनें कितनी बार क्षमा किया। उसने तो संकल्प भी लिया था कि मेरे राज्य की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखेगा। उसने मेरी अधीनता भी स्वीकार की थी, आज मैंने दीक्षा ले ली, तो मेरे पुत्र पर ही आक्रमण कर दिया।''

वे आँख बंद किए ध्यान में बैठे थे, किन्तु बाहर से स्थिर दिखाई देने वाले मुनिराज के भीतर राग की तीव्रता बढ़ती चली गई। उनका सोया हुआ उपशमित मोह पुनः जाग्रत हो गया। मोह के आवेश में वे कहीं गए तो नहीं, किन्तु आँखें बंद किए ध्यानमुद्रा में बैठे-बैठे ही उनके भीतर चिंतन की दूसरी धारा चलने लगी। उन्होंने मन-ही-मन चक्रव्यूह की रचना कर दी और उस दुष्ट राजा को चक्रव्यूह में बंद करके सोचने लगे–''अब ऐसा व्यवहार करूँगा कि यह भी जीवन भर याद रखेगा; फिर कभी ऐसी चेष्टा करने का साहस नहीं करेगा।''

ध्यानमुद्रा तो वही थी, किंतु ध्यान में अब मोह का चिंतन चल रहा था। उन्हें प्रतीत हुआ कि शत्रुपक्ष की सेना ने उन्हें बुरी तरह से पराजित कर दिया है, उनके रचे

चक्रव्यूह को भंग कर दिया है, सारी सेना मारी जा चुकी है और वे अकेले रह गए हैं। यहाँ तक कि उनके हाथ के अस्त्र-शस्त्र भी छूट गए हैं। अब जब बचने का कोई उपाय नहीं रहा तो उन्होंने अंतिम प्रहार के लिए अपने सिर का मुकुट उतारना चाहा, जैसे ही सिर पर हाथ गया, वे चौंक पड़े–"अरे! मेरे सिर पर मुकुट तो दूर, बाल भी नहीं हैं। ओह! मैं यह क्या कर रहा हूँ? उसी क्षण उन्हें अपनी अवस्था का भान हुआ और भीतर तीव्र आत्मग्लानि जाग उठी–

पापिष्ठेन दुरात्मना जड़धिया मायाविना लोभिना।
रागद्वेष - मलीमसेन मनसा दुष्कर्म यन्निर्मितम्॥
त्रैलोक्याधिपते जिनेन्द्र! भवतः श्रीपादमूलेऽधुना।
निंदापूर्वमहं जहामि सततं वर्वर्तिषु सत्पथे॥

वे अपनी आलोचना और निंदा करने लगे। उधर जो श्रावकगण भगवान महावीर स्वामी के समवसरण की ओर जा रहे थे, उन्होंने वहाँ पहुँचकर इन्द्रभूति गौतमगणधर से पूछा–'हे भगवन्! मार्ग में जिन मुनिमहाराज के हमने दर्शन किए थे, वे मुनिराज कब तक मोक्ष प्राप्त करेंगे? उनके परिणाम कैसे हो रहे हैं? आप अपने ज्ञान से हमें बताने की कृपा कीजिए। इन्द्रभूति गौतम गणधर ने कहा–"इस समय उनके परिणाम ऐसे हो रहे हैं कि यदि कदाचित इन्हीं परिणामों से आयु का बंध हो जाए, तो वे नरकायु का बंध करेंगे। भगवन्! आप क्या कह रहे हैं? ऐसे तपस्वी साधक नरकायु का बंध कर सकते हैं?

इन्द्रभूति गौतमस्वामी जी कुछ क्षण रुककर पुनः बोले– अब यदि आयु का बंध होता है तो नरकायु का नहीं, तिर्यंचायु का बंध कर सकते हैं। "भगवन्! यह क्या? कुछ देर बात गौतम स्वामी जी बोले–'अब यदि वे आयु का बंध करेंगे तो मनुष्यायु का बंध करेंगे।' इतना कह ही पाए थे कि पुनः बोले–अब उनके परिणाम इतने निर्मल हो रहे हैं कि इस समय वे देवायु का बंध कर सकते हैं। और अभी यदि आयुबंध होता है तो वैमानिक देव की आयु का बंध होगा और अब बंध करेंगे तो सर्वार्थसिद्धि ही जाएँगे।

इसी बीच आकाशमार्ग से देवों का समूह जाता दिखाई दिया। गाजे-बाजे बजने लगे। पूछा–भगवन्! यह कैसा शोर हो रहा है? गौतम स्वामी बोले–अरे महानुभाव! जिन मुनिराज के विषय में आप पूछ रहे थे, उन्हें अभी-अभी केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई है।"

महानुभाव! हम आपको यही बताना चाहते हैं **'न परं बंधनं प्रेम्णो'** प्रेम अर्थात् राग के समान कोई बंधन नहीं है। धर्मरुचि मुनिराज के परिणाम भी राग के कारण ही बिगड़े थे। वे सब कुछ सड़े तिनके के समान छोड़ आए, अपनी देवांगनाओं के समान रानियों को छोड़कर आ गए, पुत्र आदि को भी छोड़ दिया, वैभव और राज्य-सुख सब छोड़ दिए; फिर ऐसा कौन सा बंधन था, जो पुनः उसी संसार में खींच लाया। शरीर यहाँ था, चित्त भी यहाँ था, किंतु उपयोग वहाँ चला गया; वह बंधन प्रेम का बंधन था।

प्रेम का बंधन ऐसा है कि व्यक्ति रागवश उससे पाप तक कर बैठता है। कभी वही प्रेम उससे हिंसा कराता है, कभी झूठ बुलवाता है, कभी चोरी करवाता है। कभी न चाहते हुए भी तुच्छ वस्तु का सेवन करवा देता है। प्रेम का बंधन कभी परिग्रह का संचय करवाता है। तीव्र प्रेम के आवेग में व्यक्ति क्रोध भी करता है; सामने वाले की उपलब्धि को अपनी मानकर मान का पोषण भी करता है, छल-कपट और मायाचार भी करता है तथा प्रेम के आवेश में लोभ तक भी करता है। इसीलिए प्रेम का बंधन बड़ा खतरनाक है।

अंजनचोर राजा के महल में रानी का हार चुराने के लिए गया था। क्या वह हार अंजनचोर को स्वयं पहनना था? वेश्या ने उससे कहा था-"यदि तुम मुझसे सच्चा प्रेम करते हो तो मेरे लिए रानी के गले का हार लाकर दो।" बस, इसी प्रेमासक्ति में वह चोरी करने चला गया। उसे चोरी करने के लिए कौन ले गया? वेश्या के प्रेम में आसक्ति का परिणाम ही उसे चोरी के लिए ले गया।

चारुदत्त बारह वर्ष तक वेश्या के यहाँ क्यों रहा? वह तो धर्मात्मा था। उसके चाचा उसे छलपूर्वक वहाँ ले गए थे और वेश्या ने उसे शराब पिला दी फिर वह वहीं रह गया। क्यों? क्योंकि धीरे-धीरे वह वेश्या के प्रेम में आसक्त हो गया। उसी आसक्ति के चक्कर में उसने अपने घर की सम्पत्ति लुटा दी, सारी सम्पत्ति वेश्या पर चढ़ा दी। प्रेम के बंधन में पड़कर व्यक्ति विवेक खोकर क्या-क्या कार्य नहीं कर बैठता!

एक गंध के प्रति आसक्ति ही है जिसके कारण भ्रमर पुष्प में बैठकर पराग का सेवन करता रहता है और संध्या होते ही जब पुष्प बंद हो जाता है, तब वह पंखुड़ियों को चीरकर बाहर नहीं निकलता, जबकि उसमें इतनी सामर्थ्य होती है कि वह लकड़ी को भी छेदकर पार हो सकता है। किन्तु पुष्प की गंध के प्रति इतना आसक्त होता है कि वह उसे छोड़ नहीं पाता और अंततः वहीं अपने प्राण छोड़ देता है।

प्रकाश के प्रति आसक्त पतंगे बल्ब, दीप आदि के चारों ओर मंडराते रहते हैं। बार-बार प्रकाश से टकराते हैं और अंततः उसी आकर्षण में अपने प्राण गँवा देते हैं। प्रातः काल जहाँ बल्ब या हैलोजन आदि जलते हैं, वहाँ उनके नीचे सैकड़ों-हजारों मृत जीवों की राशि मृत पड़ी मिलती है। जिसे वे प्रकाश समझकर पाने दौड़े थे, वही उनके विनाश का कारण बन गया। आसक्ति की यही विडम्बना है—जिसे जीव सुख का साधन मानता है, कभी-कभी वही उसके दुःख और विनाश का कारण बन जाता है।

महानुभाव! यही आसक्ति है, जिसमें डूबकर व्यक्ति न्यायमार्ग को छोड़कर अन्याय के मार्ग पर चलने लगता है। इसीलिए आचार्य महोदय कहते हैं कि संसार में यदि सबसे बड़ा कोई बंधन है, तो वह प्रेम का बंधन है।

दूसरी बात आचार्य भगवन् कह रहे हैं—**'न विषं विषयात्परम्'** सामान्यतः विष वह माना जाता है जिसे खाने से शरीर एक बार नष्ट हो जाता है; और कई बार समय पर

उपचार मिल जाए तो शरीर नष्ट होने से बच भी जाता है। डॉक्टर-वैद्य-हकीम विष का प्रभाव उतारने के लिए प्रयास करते हैं, औषधि आदि देकर उसके प्रभाव को निष्फल कर देते हैं। सर्प का जहर चढ़ जाए तो तांत्रिक-मांत्रिक भी अपने मंत्रादि से उसे उतारने का प्रयास करते हैं। बिच्छू, मधुमक्खी अथवा अन्य विषैले जीवों की भी औषधि संभव है। ये सभी भौतिक अथवा लौकिक विष हैं, ये ज्यादा से ज्यादा एक शरीर को नष्ट कर सकते हैं, किन्तु विषयों का विष सबसे अधिक खतरनाक है। जिसने विषयों का विष पी लिया उसका केवल वर्तमान भव ही नहीं, न जाने आगामी कितने भव नष्ट हो जाएँ– कोई जानता है? नरक में कितने सागरों तक पीड़ा सहनी पड़े, कितनी दुर्गतियों में भटकना पड़े–ये कौन जानता है?

यह विषयों का विष ऐसा हलाहल है, ऐसी मदिरा है कि एक बार व्यक्ति इसे पी ले तो इसका नशा सहजता से उतरता नहीं। शराब का नशा तो व्यक्ति शाम को पीता है, सुबह तक उतर जाता है, किन्तु विषयों की शराब जिसने एक बार पी ली, न जाने कितने जीवन निकल जाते हैं उस मोह की शराब के नशे में, उस आसक्ति के नशे में अनंत भव निकल जाते हैं, किंतु व्यक्ति जाग ही नहीं पाता। अतः आचार्य भगवन् वीरनंदि स्वामी कह रहे हैं 'न विषं विषयात्परम्' विषयों से बढ़कर विष दूसरा नहीं है।

अब आचार्य भगवन् तीसरी बात कह रहे हैं। **'न कोपादपरः शत्रुः'** शत्रु कौन है? जो आपके साथ मारपीट

करें? जो आपको भला-बुरा कहें? अथवा जो आपके परिवार को क्षति पहुँचाए? आचार्य महोदय कहते हैं—वे तो सामान्य शत्रु हैं। वे तो दया के पात्र हैं, अज्ञानी हैं, जानते नहीं है, इसलिए यदि उनसे कोई अपराध भी हो जाए तो आप उन्हें क्षमा कर दो। असली शत्रु कोई है तो वह है—'क्रोध', जो आपको अंदर ही अंदर जला रहा है। क्रोध वह अग्नि है जो आपके समग्र गुणों का भक्षण कर जाती है। वह आपके सब बल, तेज, ओज, वीर्य, विनम्रता, लघुता, सरलता, सहजता, क्षमाशीलता, दया और करुणा आदि गुणों को दहन करके राख कर देती है। जैसे कहीं भयंकर आग लग जाए तो केवल सूखी लकड़ी को ही नहीं जलाती; गीले हरे-भरे वृक्षों को भी जलाकर राख कर देती है। उसकी इतनी प्रचण डता होती है कि धातु को भी-जलाकर राख बना दे। किन्तु क्रोध की अग्नि तो उससे भी भयावह है—वह आत्मा के गुणों को भी जलाकर राख कर देती है। अतः क्रोध की अग्नि से सदैव बचो।

महानुभाव! जीवन में साधना कर पाओ या न कर पाओ, चाहे एक भी माला फेर पाओ या न फेर पाओ, भगवान का पूजा-पाठ और अभिषेक कर पाओ या न कर पाओ—सब पुण्य के कार्य हैं; इन्हें अवश्य करना ही चाहिए, किन्तु इन सबसे बढ़कर एक बात स्मरण रखना कि इन सबको करने के बाद भी आपने यदि एक क्षण का क्रोध कर दिया, तो वह आपके सभी गुणों को नष्ट कर देगा।

आपने चोटी से एड़ी तक पसीना बहाया, विदेश गए दिन–रात परिश्रम किया और बड़ी कठिनाई से धन कमाकर लाए। नोटों की गड्डी घर में रखी थीं। न जाने कैसे पास रखे दीपक से आग लग गई। देखते–ही–देखते नोटों की गड्डियाँ जलकर स्वाहा हो गई। जीवन भर की कमाई कुछ ही क्षणों में राख हो गई। ठीक इसी प्रकार क्रोध की एक चिंगारी में आपके समस्त गुण भस्म हो जाते हैं और साधना सब नष्ट हो जाती है।

आपको ज्ञात होगा, **द्वीपायन मुनि** अपने क्रोध को नियंत्रित नहीं कर पाए। तैजस पुतला निकला और उससे केवल उनका संयम और शरीर ही नष्ट नहीं हुआ, धर्मध्यान भी नष्ट हुआ, द्वारिका भी नष्ट हो गई और वे स्वयं भी विनाश को प्राप्त हुए। उसी तेजस पुतले से नष्ट होकर वे अग्निकुमार देव हुए। ऐसा बताते हैं कि नगरी मुनिराज ने नहीं जलाई, बल्कि वे अग्निकुमार देव हुए और उन्होंने द्वारिका को जलाया। दूसरा कथन आता है कि तेजस शरीर के प्रभाव से वह सब कुछ जल गया। किंतु मूल बात यही है कि अपने क्रोध पर नियंत्रण नहीं रख पाए और उसके परिणामस्वरूप मृत्यु को प्राप्त कर नरक गए। जिस तप और संयम ने उन्हें ऊँचाई दी थी, अनियंत्रित क्रोध ने उसी उपलब्धि को विनाश की ओर मोड़ दिया। तप से शक्ति प्राप्त करना बड़ी बात है, किंतु उस शक्ति पर संयम रखना उससे भी बड़ी बात है।

महानुभाव! यह क्रोध की अग्नि बहुत भयंकर है, अतः अपने परिणामों को संभालो। संसार में क्रोध के एक नहीं

हजारों निमित्त मिलेंगे। सामने वाला आपको अपशब्द भी कह सकता है, आप पर मिथ्या आरोप भी लगा सकता है, आपकी क्षमा को भंग करने का प्रयास भी कर सकता है और जानबूझकर आपको क्रोध भी दिला सकता है। निमित्तों पर अपना अधिकार नहीं है, किंतु अपने परिणामों पर अधिकार अवश्य हो सकता है। वह कुछ भी करे, किन्तु आपको अपने क्रोध पर नियंत्रण रखना है।

आप पत्थर बन जाओ, मूर्ति से बन जाओ, तभी अपनी आत्मा की रक्षा कर पाओगे। यदि क्रोध में आकर अस्त्र-शस्त्र लेकर बाहर निकल गए, तो समझ लो कि अपना सर्वस्व नष्ट करके ही लौटोगे। इसलिए अपने आपको सँभालो। वास्तव में बड़े व्यक्ति वही कहलाते हैं जो अपने क्रोध, मान, माया, लोभ पर नियंत्रण कर सकें।

एक पुलिस इंस्पेक्टर जा रहा था। ऊपर से किसी बदमाश ने उस पर थूक दिया। पुलिस वाले के साथ एक कॉन्स्टेबल भी था। उसने तुरंत पिस्तौल निकाली और उस व्यक्ति को निशाना बनाना चाहा। पुलिस इंस्पेक्टर ने उसे रोका और कहा—तुम्हारे पास रूमाल है? कॉन्स्टेबल ने रूमाल निकालकर दिया—इंस्पेक्टर ने उससे थूक साफ किया और शांत भाव से कहा—"आगे चलो"। कॉन्स्टेबल आश्चर्य से बोला—"साहब! यह क्या? उसने आपका इतना अपमान किया और आप उसे छोड़कर आगे चल रहे हैं? इंस्पेक्टर ने कहा—जो काम रुमाल से हो सकता है, उसके लिए पिस्तौल की क्या आवश्यकता?" इसे तो हम कभी

भी पकड़ सकते हैं, सजा दे सकते हैं; किन्तु अभी मार दिया तो इसे जीवित नहीं कर सकते।

जब उस बदमाश ने यह बात सुनी तो वह ऊपर से दौड़कर नीचे आया और उस पुलिस अधिकारी के पैरों में गिर गया, कहने लगा–"आप मुझे क्षमा कर दीजिए। जो सजा देना चाहें दे दीजिए।" पुलिस अधिकारी मुस्कुराया और बोला–चल, तुझे क्षमा करता हूँ, किंतु आगे से ऐसी गलती किसी और के साथ कभी मत करना। ध्यान रखना।

महानुभाव! दुनिया में अच्छे लोगों की भी कमी नहीं है और बुरे लोगों की भी कमी नहीं है। यदि आप साधुपुरुष हैं, सज्जनता के धनी हैं, तो आपके व्यवहार से साधुता और सज्जनता झलकनी चाहिए, क्षमाशीलता नजर आए, क्रोध की अग्नि चेहरे पर मत आने दो; चाहे कितनी भी प्रतिकूलता क्यों न आए, मुस्कुराते रहो।

महानुभाव! आचार्य वीरनंदिस्वामी जी आगाह करते हुए कह रहे हैं–भैया! क्रोध से बढ़कर तुम्हारा कोई शत्रु नहीं है। यदि इस शत्रु को तुम पालते रहोगे पुचकार करते रहोगे, तो एक दिन वही तुम्हारा सर्वनाश करने वाला सिद्ध होगा। धूल को क्या धूल चटाओगे, लात मारोगे तब भी आपके ऊपर गिरेगी, हाथों से सहलाओगे तो भी हाथ आपके ही गंदे करेगी। इसीलिए क्रोध मत करो, और जो क्रोध कर रहा है, उस पर भी क्रोध मत करो। उसके प्रति प्रतिशोध नहीं करुणा करो, क्षमा करो, मुस्कुराकर के ही उसे पाठ पढ़ाओ।

अगली बात कही **'न दुःखं जन्मनः परम्'** यह संसार अर्थात् जन्म-मरण ही अपने आप में दुःख है, इससे बड़कर दुःख और क्या हो सकता है। अरे भाई! संसार में क्या दुःख है? आप तो ऐसा पूछ रहे हो जैसे अग्निकुण्ड में पूछा जाए-अग्नि कहाँ है? अग्निकुंड में अग्नि के अतिरिक्त और है ही क्या? ठीक इसी प्रकार संसार में दुःख के अलावा और है ही क्या? बाहर की दुनिया में जहाँ दृष्टि डालो, सब जगह दुःख ही दुःख है, सुख यदि कहीं है तो हमारी आत्मा में है। वह आत्मस्थ सुख ही हमारा स्वभाव है, हमारी नियति है, हमारी प्रकृति है।

जैसे पुष्प की सुगंध पुष्प में मिलेगी, गन्ने की मिठास गन्ने में मिलेगी, जल की शीतलता जल में मिलेगी, रत्नाकर के रत्न रत्नाकर में मिलेंगे; वैसे ही हमारी क्षमाशीलता, हमारा सुख, हमारा ज्ञान, हमारा विवेक, हमारी शक्ति आदि जितने भी आत्मा के गुण हैं, वे हमें अपनी आत्मा में ही मिलेंगे। उन्हें पुस्तकों के पन्ना पलटने मात्र से नहीं पाया जा सकता, न माला के मोतियों में खोजा जा सकता है और न यहाँ-वहाँ की दौड़-धूप तथा उछल-कूद में।

कुछ देर आँख बंद करके अपनी आत्मा में ठहरना होगा, अपने स्वभाव का चिंतन करना होगा; तभी हम अपनी आत्मा का कल्याण कर पाएँगे, अन्यथा 'न भूतो न भविष्यति'-कल्याण इतना सरल नहीं है। यदि आत्मकल्याण केवल बाहरी क्रियाओं से ही सरल होता, तो हम न जाने कब के सिद्ध बन गए होते; फिर संसार में भ्रमण क्यों कर रहे होते।

यह संसार दुःखों से भरा हुआ है। इसलिए इसके भ्रमजाल में मत फँसो। संसार ने हमारे ऊपर ऐसा आवरण डाल रखा है कि हमें दुःख में भी सुख दिखाई देने लगता है। व्यक्ति सोचता है कि पर्याप्त धन हो जाएगा तो मैं सुखी हो जाऊँगा; सुंदर लड़की से शादी हो जाए तो सुखी हो जाऊँगा, बाल-बच्चे हो जाएँ तो सुखी हो जाऊँगा, व्यापार अच्छा चलेगा तो सुखी हो जाऊँगा, पद-प्रतिष्ठा मिल जाए तो सुखी हो जाऊँगा; इस प्रकार सुख को हम निरंतर किसी आने वाली परिस्थिति के साथ जोड़ते चले जाते हैं। ये सब भ्रम के परदे हैं। इनमें वास्तविक सुख नहीं है। क्योंकि जिन व्यक्तियों के पास ये चीजें हैं, उनकी आँखों में भी आंसू बहते दिखाई देते हैं, वे भी दुःखी हैं। सुख इससे परे की वस्तु है। वह आत्मा का स्वभाव है, आत्मा का गुण है; जिसे अपनी आत्मा में ही खोजने की कोशिश करो।

महानुभाव! आचार्य भगवन् श्री वीरनंदि जी स्वामी ने जीवन को सफल बनाने वाले चार बहुपयोगी सूत्र दिए हैं। यदि इन चार सूत्रों को हमने अपने जीवन में चरितार्थ कर लिया, उन्हें केवल सुना नहीं, बल्कि अपने आचरण में उतार लिया, तो संभव है कि हम चतुर्गति के दुःखों से बचकर परम व शाश्वत सुख को प्राप्त करने में सफल हो सकेंगे। हम सभी अपने उस शाश्वत अनंत सुख को प्राप्त करने का सम्यक् पुरुषार्थ करें। आप सभी का मंगल हो, शुभ हो, कल्याण हो—इन्हीं भावनाओं के साथ.....

।। श्री शान्तिनाथ भगवान की जय ।।

मूल्यांकन की सही कसौटी

महानुभाव! आप देखते हैं, संसार में जो कोई भी वस्तु है, उन सभी का मूल्य आपकी दृष्टि में सुनिश्चित है। चाहे रत्न हो, चाहे धातु हो, चाहे लकड़ी हो, चाहे मिट्टी हो, चाहे पत्थर हो–जो भी वस्तु है, उसका कोई–न–कोई मूल्य निश्चित है। यहाँ तक कि व्यक्ति के निश्चित समय और शारीरिक श्रम का भी अलग मूल्य होता है। अलग–अलग व्यक्तियों के एक घंटे के श्रम का मूल्य भी अलग–अलग हो सकता है किसी का 100 रु., किसी का 200, 250, 500, 1000, 10,000, लाख रुपये या करोड़ रुपये।

वचनों का मूल्यांकन भी आपने कर लिया है। किसी के एक घंटे बोलने का कोई मूल्य नहीं, कोई व्यर्थ का अपलाप करता है; जबकि कोई एक घंटे का भाषण देता है तो उसका मूल्य दस हजार या पचास हजार रुपये भी हो सकता है। कोई वकील एक घंटे बहस करता है तो उसकी फीस लाखों में भी हो सकती है। इस प्रकार वचनों का मूल्य भी आपने तय कर लिया है।

मन के विचारों और तत्त्वचिंतन का मूल्य भी आपने निर्धारित कर रखा है। यदि मैं शुभ चिंतन करता हूँ, तो मुझे इतना पुण्य आस्रव होगा, मेरी इतनी पूर्वबद्ध कर्म की निर्जरा हो जाएगी, अविपाक निर्जरा हो जाएगी अथवा इस तत्त्वचिंतन के माध्यम से मेरे इतने कुसंस्कारों का विनाश

होगा और इतने सुसंस्कारों की संप्राप्ति होगी। ऐसे आपने सबका मूल्य निर्धारित कर लिया है।

जो भी वस्तु आपको दृष्टिगोचर होती है–हवा हो, जल हो, खाद्यपदार्थ हों अथवा खाद्यान्न–प्रत्येक का मूल्य सुनिश्चित करने के उपरांत भी अभी तक आपने अपना सही मूल्यांकन नहीं किया। और स्वयं का मूल्यांकन किए बिना अन्य वस्तुओं का मूल्यांकन क्या मूल्य रखता है?

महानुभाव! आप सुबह से अखबार के माध्यम से, चाहे मार्केट का भाव देखकर वस्तुओं का भाव जान लेते हो– सोने का, चाँदी का, पीतल का, लोहे का, जर्मन सिल्वर का; जो–जो भी धातुएँ हैं या मण्डी में जो वस्तुएँ हैं, उन सभी का भाव आप जानते हैं, किन्तु अपनी आत्मा का भाव नहीं जानते। मेरी आत्मा के भाव क्या चल रहे हैं? इस ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता।

अपनी आत्मा के भाव जाने बिना संसार के समस्त भावों को जानने का क्या लाभ? क्या औचित्य और क्या प्रयोजन? मुख्य प्रयोजन तो यही है कि हम अपनी आत्मा के सही भावों को जान लें और उन्हें सही बनाकर के रखें।

मार्केट में वस्तु के भाव गिर जाते हैं तो व्यापारी को घाटा हो जाता है और वस्तु के भाव बढ़ जाते हैं तो जिसके पास वह वस्तु रखी है, उसे लाभ हो जाता है। ऐसे ही आपकी चेतना के भाव बढ़ गए, ऊँचे हो गए तो आपका बहुत बड़ा लाभ है; और चेतना के भाव गिर गए तो बहुत बड़ी हानि है।

महिला ने दाल बनाई, थोड़ी बच गई। दो–चार घंटे में खराब हो गई तो महिला को बहुत दु:ख हो रहा है। दूध से रबड़ी मावा बना रही थी, दूध फट गया, बिगड़ गया तो उसे बहुत दु:ख हो रहा है। व्यापारी को बाजार के भाव गिरने से दु:ख हो रहा है, किन्तु साधर्मी बंधुओं को अपने भाव गिर जाने पर दु:ख क्यों नहीं होता?

प्रात:काल उसके भाव कितने निर्मल थे–पूजा, भक्ति, जाप, तप, उपासना आदि में लगे हुए थे; फिर थोड़ी–सी प्रतिकूलता आते ही वे भाव कहाँ चले गए। कैसे कोई अशुभ निमित्त मिला और आँखें लाल हो गई। कोई ऐसा निमित्त मिला कि आँखों में वासना आ गई;, किसी प्रसंग ने अहंकार जगा दिया। किसी की कोई वस्तु दिखाई दी तो उसे ग्रहण करने का भाव आ गया, मायाचारी का भाव आ गया, परवस्तु को अपना बनाने का भाव आया तो लोभ की प्रवृत्ति प्रबल हो गई। इस प्रकार हमारे भाव निरंतर गिरे रहते हैं। आश्चर्य यह है कि हम उन गिरते हुए भावों को देखते जा रहे हैं, तो भी अफसोस नहीं करते कि हमारे भाव गिर रहे हैं, हमें सँभलना चाहिए।

कोई व्यक्ति फिसलपट्टी से फिसलने लगे तो उसे बचाने वाले उसकी ओर दौड़ते हैं। बाहर से गिरने वाले व्यक्ति को तो बाहर की दुनिया संभाल सकती है, किंतु जब व्यक्ति अंतरंग से गिरने लगे, तब उसे संभालने वाला कौन होगा? या तो स्वयं संभलो अथवा अपना कोई शुभ चिंतक रख लो। पहले तो अपने भाव को संभालो कि वे गिरें ही नहीं;

और यदि कभी गिरने लगे तो अपने आस-पास ऐसे मित्रों को रखो, उन शुभाकांक्षी मित्रों के बीच में रहो जो आपको गिरने से संभाल सकें।

महानुभाव! आज साक्षात् भगवान हमारे समक्ष नहीं हैं। उनके जिनबिम्ब हमारे सामने हैं, किंतु वे दौड़कर आकर हमें संभाल नहीं लेंगे, न तुम्हारे अंदर उठते परिणामों को बलपूर्वक रोक देंगे, हाँ, यदि आप चाहें तो उनका आलम्बन लेकर स्वयं को अवश्य संभाल सकते हो। जैसे सीढ़ियों से गिरते व्यक्ति को रेलिंग संभाल लेती है, लेकिन शर्त यह है कि वह उसे पकड़ना चाहे। ना संभालना चाहे तो रेलिंग अपनी जगह बनी रहे, गिर रहे हो तो गिर ही रहे हो। फिर आज जिनवाणी है, वह आपको संभाल सकती है; किन्तु उसका सही उपयोग, सही अर्थ आप लगा पाएँ या न लगा पाएँ, जो धारणाएँ आपके मन में बनी हैं, आपकी जो मान्यताएँ हैं उन्हीं के अनुसार आप शास्त्रों का व वाक्यों का अर्थ निकाल लेते हो। आप यदि जिनवाणी का सही अर्थ निकालो तो वो आपको संभाल सकती हैं।

महानुभाव! फिर जीवंत रूप में संभालने वाले सच्चे निर्ग्रन्थ गुरु हैं। वे आपके मन के भावों को पूर्णतया जान तो नहीं सकते, क्योंकि वर्तमान काल में उन्हें मनःपर्यय और अवधिज्ञान नहीं है; इसीलिए आपके अतीत-अनागत को भी पूर्णतः नहीं जान सकते। किंतु श्रुतज्ञान-मतिज्ञान के माध्यम से परिस्थितियों और आपके आचरण को जानकर आपको उपदेश अवश्य देते हैं।

कभी आपको गुरुओं का उपदेश अच्छा लगता है और कभी वही उपदेश खराब भी लग जाता है। वे कहते हैं—भाई! राग मत करो, मोह मत करो, द्वेष मत करो, कषाय मत करो, विषयों में प्रवृत्ति मत करो, पापों में मत रचो-पचो, चार संज्ञाओं के पीछे पागल मत बनो। ऐसा सुनकर कई बार आपको खराब लग जाता है—न जाने महाराज जी को क्या हो गया! वे तो स्वयं गृहत्याग करके साधु बन गए, अब चाहते हैं कि हम भी साधु बन जाएँ। कई बार उनकी शुभ प्रवृत्ति को देखकर भी आपका मन खिन्न हो जाता है।

और कई बार मन बहुत प्रसन्न भी होता है—आज तो बहुत आनंद आया, महाराज जी ने जो बात बताई वह मेरे हृदय को छू गई, उनके वचन ऐसे लगे, मानो चित्त में अमृत का झरना झर गया हो। मन करता है कि वे अपनी मृदु-मधुर वाणी से बोलते ही जाएँ और हम सुनते ही जाएँ।

महानुभाव! हम अपने परिणामों को कब सँभाल सकते हैं? जब हम अपना सही मूल्यांकन करना सीख लें। यद्यपि मूल्यांकन बाहर का किया जाता है, व्यक्ति स्वयं को बड़ा मानता है—कभी ज्ञान के कारण, कभी पूजा के कारण, कभी पद-प्रतिष्ठा, कुल, जाति या ऋद्धि के कारण; कभी सुन्दर रूप-शरीर, तप अथवा संयम के कारण अपने को बड़ा मानता है। इनके माध्यम से अहंकार का पोषण करते हुए वह स्वयं का मूल्यांकन कर लेता है कि ''मैं इतना बड़ा हूँ, मैं इतना श्रेष्ठ हूँ।'' जहाँ स्वयं को बड़ा

मानना प्रारंभ हुआ, वही दूसरों के प्रति तिरस्कार का भाव जन्म लेने लगता है। और जहाँ तिरस्कार आया, वहीं से परिणाम गिरने शुरू हो जाते हैं। इस प्रकार व्यक्ति अपने सही मूल्यांकन से च्युत हो जाता है।

बाह्य जगत में भी मूल्यांकन की अनेक विधियाँ हैं– चाहे–Personality test हो, चाहे Medical test हो, चाहे Eye test हो, चाहे I.Q. lable test हो अथवा अन्य परीक्षण। इन सबके माध्यम से व्यक्ति की गुणवत्ता, क्षमता और योग्यता का आकलन किया जाता है। यह सब जानने की जिज्ञासा भी रहती है, किन्तु जिसे सबसे पहले जानना चाहिए–उस स्वयं को जानने की विधि यदि नहीं जानी, तो सही मूल्यांकन कैसे होगा।

जिस प्रकार द्रव को मापने के लिए लीटर की, कपड़ा नापने के लिए मीटर की, भूमि मापने के लिए किलोमीटर की, ऊँचाई नापने के लिए फुट की और वजन मापने के लिए बॉट की आवश्यकता होती है। सही माप के लिए सही मापक की आवश्यकता है, तभी आप समीचीन मान जान सकेंगे और सही मूल्यांकन कर सकेंगे। उसी प्रकार अपने समीचीन मूल्यांकन के लिए सम्यक् मापदण्डों की आवश्यकता होती है। इसीलिए आचार्य भगवन् श्री तुरुवल्लुवर स्वामी ने तिरुक्कुरल काव्य में कहा–

कुलीनो हि भवत्येव चतुर्भिः सद्गुणैर्युतः।
हृष्टास्यो मधुरालापी, गर्वशून्य उदारधीः॥96/3

चेहरे पर प्रसन्नता, वाणी में मधुरता, स्वभाव में निरभिमानता और विचारों में उदारता–इन चार गुणों से युक्त पुरुष ही वास्तव में कुलीन है। चाणक्य नीति में भी कहा है–

आचारः कुलमाख्याति, देशमाख्याति भाषणम्।
सम्भ्रमः स्नेहमाख्याति, वपुराख्याति भोजनम्।।3/2।।

आचरण से कुल की पहचान होती है, भाषा अर्थात् बोलने के ढंग से देश–प्रदेश की, आदर–सत्कार से स्नेह की और शरीर देखकर भोजन/आहार की पहचान होती है।

पहली बात कही–आचरण से कुलीन व्यक्ति की पहचान हो जाती है। उसकी प्रवृत्ति से उसके उच्च–नीच होने का प्रमाण प्राप्त हो जाता है। आपने शांतिनाथ चरित्र में सत्यभामा का कथन पढ़ा होगा। श्रीषेण राजा की कथा आती है, जो आगे चलकर शांतिनाथ भगवान हुए। उनकी दो रानियाँ थीं–नंदिता और आनंदिता। उनके राज्य में एक ब्राह्मण–ब्राह्मणी रहते थे। उनकी एक पुत्री थी। उनके यहाँ एक दासी–पुत्र काम करता था। उस ब्राह्मण पुत्री का मन उस दासी–पुत्र पर अनुरक्त हो गया। उस दासी पुत्र ने कभी अपना सही परिचय नहीं दिया था, किन्तु उसकी प्रवृत्ति और चेष्टाओं को देखकर कपिल ब्राह्मण की पुत्री ने पहचान लिया कि यह कोई ब्राह्मण कुल का नहीं, वरन् दासी पुत्र है।

व्यक्ति का आचरण उसके उच्च–नीच कुल की व्याख्या स्वतः कर देता है। जिस प्रकार व्यक्ति की भाषा से उसके

देश–प्रदेश का अनुमान हो जाता है कि वह मद्रासी है, बंगाली है या पंजाबी आदि; उसके खानपान से उसके खानदान की पहचान होती है। व्यक्ति का भोजन, भजन, भाषा व उसका आचरण, व्यक्तित्व का स्वयमेव व्याख्यान कर देता है।

महानुभाव! यहाँ भी चार गुण बताए गए हैं, जिनके आधार पर व्यक्ति अपना मूल्यांकन कर सकता है। 'कुलीनो हि भवत्येव' निश्चय से वही व्यक्ति कुलीन है, जो चार प्रकार के गुणों से संयुक्त है। उनमें प्रथम गुण है 'प्रसन्नचित्त'। कुलीन व्यक्ति कभी चेहरा लटकाकर नहीं बैठता, वह उदास नहीं रहता।

अरे भैया! हमारा ऐसा क्या चला गया, जो हम उदास बैठे हैं। एक व्यक्ति से पूछा–भैया इसने इतना बढ़िया चुटकुला सुनाया और तुम हो कि रो रहे हो? वह बोला–"नहीं भैया, मैं रो नहीं रहा, मैं हंस ही रहा हूँ।" पर तुम्हारी शक्ल तो रोने जैसी बनी है। भैया! क्या करूँ, मेरा तो चेहरा ही ऐसा है। ऐसे चेहरे वालों के लिए किसी ने ठीक ही लिखा है–

उदासी जिन चेहरों का शृंगार करती है।
मक्खी भी वहाँ बैठने से इन्कार करती है।।

निराशा, हताशा, उदासीनता, ग्लानी, खेद या अफसोस रूप भाव जिन चेहरों के शृंगार करते हैं, उनसे हर कोई किनारा करके चलना चाहता है और जिन चेहरों की भावमुद्रा प्रसन्न हो, वहाँ हर कोई आकर बैठना चाहता है।

आचार्यों ने कहा है कि जो व्यक्ति धर्मध्यान में प्रवृत्त रहता है, उसके चेहरे पर सहज प्रसन्नता रहती है। **'मुखप्रसन्नं विमला च दृष्टि, गुणानुरागो मधुरा च वाणी'** उत्तम पुरुष के चेहरे पर प्रसन्नता, नयनों में निर्मल दृष्टि, गुणों के प्रति आकर्षण एवं वाणी में मधुरता होती है।

महानुभाव! तो पहला गुण-लक्षण है–प्रसन्नमुख होना। प्रसन्नचित्त रहने वाले व्यक्ति के अनायास ही सर्वत्र मित्र बन जाते हैं, उसके सहयोगी बन जाते हैं। इसके विपरीत, जो उदास रहता है, धीरे-धीरे उसके अपने भी उससे दूरी बनाने लगते हैं। ऐसे व्यक्ति से घर वाले भी रास्ता काटकर चले जाते हैं।

दूसरा कहा **'मधुर-भाषी'**। सदैव मीठे वचन बोलो। जब मीठा बोलने से न जीभ घिसती है, न छोटी होती है। तो फिर कटु वचन क्यों बोलना? आप मीठा बोल दोगे तो जीभ घिस नहीं जाएगी? फिर आप कड़वा क्यों बोलते हैं?

जीभ घिस गई होती या रुतबा घट गया होता।
जो क्रोध मे कहा तुमने, वही हँसकर कहा होता॥

महानुभाव! नीतिकारों ने भी कहा है–

प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः।
तस्मात्तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता॥16.17(चा.नी)

प्रिय और मधुर वाक्य बोलने से सभी प्राणियों को संतुष्टि मिलती है। जब मधुर वचन बोलने में हमारा कुछ

व्यय ही नहीं होता, तो फिर वाणी में दरिद्रता क्यों रखी जाए इसलिए कहा है–

ऐसी वाणी बोलिए, मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करे, आपहु शीतल होय॥

महानुभाव! साधु की वाणी तो वैसे भी शीतल होती है। छहढालाकार ने लिखा है–

भ्रमरोग हर जिनके वचन, मुख चन्द्र तैं अमृत झरे।

श्रेष्ठ कुलीन महापुरुषों का दूसरा लक्षण अथवा गुण कहा–''मधुरालापी''। वे न चीखेंगे, न संक्लेश करेंगे और न ही उनके चेहरे पर बारह बजेंगे। सदैव पुष्पों–सा खिलता उनका चेहरा होता है। उनके वचन स्वयं के धर्मध्यान के साथ-साथ दूसरों के धर्मध्यान में भी निमित्त बनते हैं।

तीसरा लक्षण कहा–'**गर्वशून्य**'। महापुरुष अहंकारी नहीं होते, वे बहुत विनम्र होते हैं। उनका जीवन सादा, किन्तु विचार उच्च होते हैं। वे गुप्त पुण्य करते हैं, अपने धन का व्यय धर्म में करते हैं एवं दान-पुण्य और कृपा-दया के कार्य बिना नाम, यश और ख्याति की आकांक्षा से करते हैं। वे जो दान देते हैं, उसका बखान नहीं करते। महापुरुष सागर की तरह गहरे होते हैं। जैसे सागर की गहराई में बहुमूल्य रत्न छिपे होते हैं, वैसे ही महापुरुषों के भीतर भी गुणरूपी अनेक रत्न छिपे होते हैं।

उथला पुरुष गड्ढे की भांति होता है, जिसमें कीचड़ भरी होती है, किन्तु श्रेष्ठ कुलीन पुरुष गर्वशून्य होते हैं, उनकी प्रवृत्ति सदैव विनम्रता से युक्त होती है।

और चौथा लक्षण बताया 'उदारता'। वे उदार हृदय से युक्त होते हैं, उनमें कंजूसी का भाव नहीं होता। वे सोचते हैं, आज हमारे पुण्य का उदय है तो हृदय खोलकर दो। कल का क्या भरोसा है–पुण्य का उदय रहेगा अथवा पाप का उदय आएगा? किंतु आज अवसर मिला है तो उसका सदुपयोग कर लो। देने से मेरा पाप भी पुण्य में बदल जाएगा। और न देने से मेरा पुण्य भी पाप में बदल जाएगा। कंजूसी करने से मेरा वैभव और पुण्य का फल नष्ट हो जाएगा। इसीलिए आज जो है, वह दो; सोचो मत। जैसे कोई आपसे कहे कि आप अपना धन यहाँ लगाओ तो वह दूना हो जाएगा, तो आप क्या करोगे? आप तुरंत धन दे दोगे, अच्छा है दूना हो जाए।

कुछ प्रसिद्ध कम्पनियाँ वर्तमान में यह प्रलोभन देती हैं कि दो-चार महीने में ब्याज के रूप में पाँच रुपये सैकड़ा या दस रुपये सैकड़ा मिलेगा। एक-दो महीने ब्याज देकर वे आपको लुभा देती हैं। आप लोभ में आकर अपना धन तो लगाते ही हैं, बाहर से भी पैसा उठाकर दे देते हैं। फिर वे कम्पनियाँ लापता हो जाती हैं। तब कहते हो–अरे! हम तो लुट गए, बरबाद हो गए। इसीलिए ऐसे लोभ में मत पड़ो।

किन्तु यहाँ कहा कि 'दान' एक ऐसा निवेश है, जिसमें आपका धन दुगुना-चौगुना नहीं, हजार गुना, लाख गुना करोड़ गुना फलित होता है। वटवृक्ष के बीज की तरह। एक बीज बोया जिससे बहुत सारे फल प्राप्त हुए और एक-एक फल से भी अनेक-अनेक बीज प्राप्त हुए। उत्तम पात्र को दिए गए दान का फल ऐसा ही होता है।

महानुभाव! यहाँ अपना सही मूल्यांकन करने के लिए चार हेतु दिए गए है, जिसके माध्यम से आप अपनी सही समीक्षा कर सकते हैं। और अपना मूल्यांकन सदैव करते ही रहना चाहिए, क्योंकि किसी कारणवश यदि हमारे अंदर गिरावट आ रही हो तो स्वयं रहते हुए हम उसमें सुधार कर सकें। यदि मकान में टूट-फूट हो रही हो, तो उसकी मरम्मत आवश्यक है; आप मिस्त्री को बुलाकर उसे ठीक कराते हो; फर्नीचर में टूट-फूट हो रही हो तो आप बढ़ई को बुलाते हो और यदि नल में कोई कमी आ गई तो आप प्लम्बर को बुलाते हो। जब बाहरी वस्तुओं में आई छोटी-सी खराबी को भी आप अनदेखा नहीं करते, तो फिर अपने भीतर होने वाली टूट-फूट को कैसे अनदेखा कर सकते हो?

अपना सही मूल्यांकन करते रहो और अपने भीतर जहाँ भी कोई कमी दिखाई दे, उसे समय रहते सुधार लो। इन चार घटकों को अपने जीवन में घटित करते रहो। अपने अंदर भी देखो–कहीं भावों में गिरावट तो नहीं आ रही, कही विचारों की दिशा तो नहीं बिगड़ रही, कहीं आचरण अपने स्तर से नीचे तो नहीं जा रहा? यदि कहीं टूट-फूट दिखाई दे तो उसे सुधार लो अन्यथा हानि अपनी ही आत्मा को होगी। आप अपना समीचीन मूल्यांकन करो, अपनी कमियों को पहचानो, उन्हें सुधारों और अपने इस बहुमूल्य जीवन की सुरक्षा करो–इन्हीं सद्भावनाओं के साथ....

।। श्री शान्तिनाथ भगवान की जय ।।

धर्म-शाश्वत सहचर

महानुभाव! संसार में सच्चा मित्र कौन है? क्योंकि—इस अनादिनिधन दुःखपूर्ण निःसार संसार में एकाकी जीवन जीना अत्यन्त दुःखमय, क्लेशमय और अशांतिमय ही प्रतिभासित होता है। व्यक्ति चाहे संसार के मार्ग पर चले या मोक्षमार्ग में गमन करे, उसे एक सहारे और आलम्बन की आवश्यकता होती है।

संसार के मार्ग पर चलता हुआ व्यक्ति दुःखों से घबराता है और सुख प्राप्त करना चाहता है। उसे कभी मृत्यु का भय, कभी आपत्ति-विपत्ति का भय, कभी विपन्नता का भय, कभी आकस्मिक संकट का भय, कभी मरण का भय, कभी अगुप्ति भय और कभी परलोक आदि भय सताते हैं। ऐसे अनेक प्रकार के भय उसे निरन्तर घेरे रहते हैं। ऐसे में सच्चा मित्र मिल जाए तो वह अपने आप में संतुष्ट होता है कि—मेरा मित्र मेरे साथ है; अब मुझे चिन्ता नहीं। यह मेरी रक्षा करेगा, मेरा हित करेगा, मुझे सुख का मार्ग बताएगा और मेरे लिए आलम्बन एवं सहारा बनेगा। अतः जीवन में मित्र की आवश्यकता तो होती ही है।

यद्यपि नीतिकार कहते हैं-**'एको मित्रं भवति'** मित्र होने के लायक एक ही है, वह कौन है? यतिर्वा भूपतिर्वा- या तो साधु मित्र हो सकता है अथवा राजा मित्र हो सकता है।

किन्तु राजा के संबंध में नीतिकार कहते हैं—**'राजा मित्रं भवति केन दृष्टं वा श्रुतं वा'** राजा किसी का मित्र हुआ

हो अथवा हो सकता हो ऐसा आज तक किसने देखा या सुना है? यदि राजा किसी के साथ मित्रता निभाएगा, तो न्यायपूर्ण और निष्पक्ष शासन नहीं कर पाएगा। वह अपने मित्रों को हर स्थिति-परिस्थिति में बचाने की कोशिश करेगा। इसीलिए जो आदर्श राजा है, सम्यक् राजा है, वह किसी का मित्र नहीं होता; उसके लिए तो वही प्रिय है, जो राजाज्ञा का पालन करे, उसका उल्लंघन न करे। जो राजा और प्रजा दोनों के लिए हितकारी हो तथा जिससे राज्य का गौरव, सम्मान व प्रतिष्ठा बढ़े वही राजा को प्रिय होता है। अतः राजा तो मित्र नहीं हो सकता।

फिर दूसरा मित्र कौन होता है? 'यतिर्वा'-साधु। किन्तु साधु भी सांसारिक अर्थों में मित्रता नहीं निभाता। कल्याण का उपदेश अवश्य देता है, उसमें मित्रता का भाव भी होता है; किन्तु वह संसारी प्राणी के साथ कदम से कदम मिलाकर नहीं चल सकता, क्योंकि संसारी प्राणी का राग अभी छूटा नहीं है और साधु स्वयं को राग में बाँध नहीं सकता।

संसारी प्राणी को जब राग से व राग के गर्त से बाहर निकालो, तो उसे लगता है कि ये महाराज इतना त्याग क्यों करा रहे हैं? ऐसी बात क्यों कह रहे हैं। हम अपने पिता, पुत्र, बहिन, भाई-बंधु आदि परिवारीजन को छोड़कर इस धर्म के मार्ग पर कैसे आ पाएँ, साधु तो ऐसे ही कहते रहते हैं।

और दूसरी बात यह भी है कि साधु हमेशा एक स्थान पर मिलते भी नहीं; क्योंकि साधु तो नदी के प्रवाह की

तरह से हैं—आज यहाँ हैं, कल कहाँ पहुँच जाएँ, पता नहीं। वे पूरे भारतवर्ष में पदविहार करते हुए भ्रमण करते रहते हैं। अतः मित्रता के लिए बार-बार उनके पास जाने का न तो समय मिल पाता है और न ही अनुकूलता रहती, तब क्या करें?

बालचन्द्र मुनि महाराज हुए, जिन्होंने 'योगामृत' नामक शास्त्र की रचना की, जिसकी टीका आचार्य भगवन् श्री देशभूषण जी मुनिराज (दादागुरु) ने लिखी। उन्होंने सच्चा मित्र किसे बनाएँ इस संबंध में कहा है—

वाताभ्रविभ्रममिदं वसुधाधिपत्यम्,
आपातमात्रमधुरो विषयोपभोगः।
प्राणास्तृणाग्रजलबिन्दुसमा नराणां,
धर्मः सखा परमहो परलोकयाने॥

पृथ्वी का सम्राज्य भी हवा से उड़ते बादल की भाँति चंचल और अस्थायी है। इन्द्रिय विषयों का उपभोग केवल आरम्भ में मधुर प्रतीत होता है। मनुष्य का जीवन घास की नोक पर ठहरी जल-बूँद के समान क्षणभंगुर है। परलोक की यात्रा में धर्म ही मनुष्य का परम मित्र है।

महानुभाव! आप पढ़ते हो—'धर्म' जीव का साथी है। संसार में कोई किसी का स्थायी साथी नहीं है; धर्म ही सच्चा साथी है। सब साथ छोड़ जाएँगे, पुण्य भी साथ छोड़ जाएगा, पाप भी छूट जाएगा; बंधु-बांधव, माता-पिता—सब एक दिन साथ छोड़ जाएँगे। माता जन्म देकर स्वयं मृत्यु को

प्राप्त हो सकती है और पिता जन्म के पहले भी मृत्यु को प्राप्त हो सकते हैं। भाई-बंधु हों या न हों, यदि हों भी तो कब तक और कहाँ तक साथ देंगे?

जीते-जी साथ दें, यह भी निश्चित नहीं। हो सकता है हिस्से-बाँट कर ले और आपको अलग कर दें। वे तो मेघपटल की तरह हैं—हवा के झोंके से कब कहाँ उड़ जाए, कह नहीं सकते। जैसे आकाश में मेघों को देखते हुए ऐसा लगता है कि अभी बरसेंगे, किन्तु एक हवा का झोंका आया और वे तितर-बितर हो गए। बस, संसार के संबंधों की भी यही कहानी है।

जिस प्रकार मेघ-समूह क्षणभर में बिखर जाते हैं, उसी प्रकार संसार का वैभव और साम्राज्य भी स्थायी नहीं है। कितनी भी सत्ता, पद-प्रतिष्ठा और वैभव क्यों न हो, वह शाश्वत नहीं रहता। चक्रवर्तियों का वैभव भी शाश्वत नहीं रहा; चक्रवर्ती का वैभव यदि उसके हाथ का होता, तो वह अपने बेटे को भी चक्रवर्ती बना देता; किन्तु आज तक क्या कभी किसी चक्रवर्ती का बेटा चक्रवर्ती बन सका? वैभव साथ दिखाई अवश्य देता है, पर साथ चलता नहीं।

ये विषय-भोग भी शाश्वत सुख के कारक नहीं हैं। भोगते समय कुछ क्षण ही अच्छे अवश्य लगते हैं, किन्तु भोग लेने के बाद उन्हीं से विरक्ति होने लगती है, उनसे घृणा-सी आती है। ऐसा लगता है कि क्या मूर्खताभरा कार्य किया है। विषय भोग चाहे स्पर्शन इन्द्रिय संबंधी हों अथवा

रसना, घ्राण, चक्षु व कर्ण इन्द्रिय संबंधी–सेवन करने के उपरांत लगता है, ये तो व्यर्थ हैं।

सेवन के पश्चात् उनकी सारहीनता अनुभव होने लगती है। अच्छा भोजन आया तो भोजन करने से पहले उसमें आसक्ति थी, किन्तु करने के उपरांत मन में आता है—भैया! जाकर घाटी नीचे तो माटी है; पेट में सब मल बन गया। आरंभ में इन्द्रियों के विषय–भोग अच्छे लगते हैं, किन्तु अन्ततः उनसे विरक्ति ही होती है। गर्मी में जो पदार्थ सुखद लगते हैं वही सर्दी में दुखद लगने लगते हैं। इसलिए इन इन्द्रिय–विषयभोगों की नश्वरता को समझना चाहिए।

और भी कहा है कि शरीर में प्राणों की स्थिति कैसी है? जिस प्रकार तृण के ऊपर जलबिन्दु स्थित होता है, उसी अस्थिर बिंदु की भांति इस तन में प्राण हैं, कब तक ठहरेंगे कह नहीं सकते।

एक अनुमान लगाया कि व्यक्ति कब तक जीएगा? आज के इस युग के अनुसार अधिकतम आयु स्तर–अस्सी–नब्बे या सौ वर्ष मान लो; और यदि बीच में ही जाना पड़े तो कभी भी जा सकते हैं। तृण पर स्थित वह जल–बिंदु सूर्य की किरण पड़ते ही सूख जाएगी–पर कितने समय में सूख जाएगी? ग्रीष्मकाल का सूर्य हो तो अन्तर्मुहूर्त में सूख जाएगी और वर्षाकाल में घंटे–दो घंटे में सूख जाएगी; इसी प्रकार मान लो कि ये प्राण सौ वर्ष तक भी रहें फिर भी उनका जाना निश्चित है। जिस प्रकार जल–बिंदु हवा का एक झोंका आते ही तृण से गिर सकता है, उसी प्रकार ये

प्राण भी कभी भी शरीर को छोड़कर बाहर निकल सकते हैं। मनुष्यों के प्राण ओस-बिंदु की तरह हैं—दिखते स्थिर हैं, पर हैं अत्यन्त अस्थिर।

अतः एक धर्म ही सच्चा सखा है, सच्चा बंधु है, सच्चा साथी है; जो परलोक में भी साथ जाने वाला है। इसके अतिरिक्त संसार की कोई भी वस्तु और कोई भी सम्बन्ध हमारे साथ जाने वाला नहीं है। माना आपकी माँ बहुत अच्छी है। वह आपको बहुत लाड़-प्यार भी करती है, आपको हर सुख देने का प्रयास करती है। स्वयं कष्ट सहकर भी आपको अच्छे से अच्छा खिलाती-पिलाती और वस्त्राभूषण पहनाती है। पिता भी आपके प्रति बहुत स्नेह रखते हैं, आपकी परवरिश में कोई कमी नहीं छोड़ते। भाई सदा आपके साथ खड़ा रहता है, बहिन अपने भाई को बहुत दुलार देती है, पत्नी प्राणपन से समर्पित है और पुत्र आदि आपकी हर बात मानते हैं।

किन्तु ये सब यहीं रह जाएँगे। कोई भी परलोक में आपके साथ गमन नहीं करेगा—न बाल-बच्चे, न मित्र और न शत्रु। सब यहीं छूट जाने वाले हैं। यदि हमारे साथ कोई जाने वाला है तो वह है-धर्म।

महानुभाव! इसीलिए कहा है—**धर्मः सखा परमहो परलोकयाने।** हे भव्य जीव! भो ज्ञानी! भो सयाने, चतुर और विवेकी महानुभाव! धर्म के सिवाय इस संसार में कोई भी सच्चा मित्र नहीं है। अतः उस धर्म को ही अपना बंधु बनाओ।

एक राजकुमार था। उस राजकुमार के तीन मित्र थे। एक मित्र ऐसा था, जो लगभग चौबीस घंटे राजकुमार के साथ रहता था। उसके साथ सोना, भोजन करना तथा अन्य कार्य करना–एक क्षण के लिए भी उससे अलग नहीं होता था। राजकुमार भी उस मित्र के लिए सबसे अधिक धन खर्च करता था।

दूसरा मित्र ऐसा था, जो दिन में तो राजकुमार का साथ देता था किन्तु रात में नहीं। वह दिनभर में चार–सात घंटे उसके साथ रहता था।

तीसरा मित्र कुछ अलग था। वह सालभर में कभी एक–दो बार राजा के यहाँ आता था। वह बहुत दूर रहता था। राजकुमार उसके साथ बैठता, उस पर भी धन खर्च करता था। आनंद–प्रमोद के साथ उससे वार्ता करता था।

राजा अपने पुत्र को बहुत स्नेह, लाड़–प्यार करता था, किन्तु एक बार राजकुमार से कुछ गलती हो जाने से राजा उससे कुपित हो गया। राजकुमार की माँ ने कहा–''इसे क्षमा कर दीजिए।

राजा ने कहा–''नहीं, दंड तो इसे अवश्य मिलेगा। यदि मैं अपने पुत्र को क्षमा करूँगा तो मेरी प्रजा मेरी आज्ञा का पालन नहीं करेगी। लोग इस पुत्र का नाम लेकर बड़े–बड़े अपराध करेंगे। इसीलिए न्यायप्रिय शासक के लिए पुत्र और प्रजा में भेद नहीं होना चाहिए। मेरी प्रजा भी मेरे लिए पुत्रवत् है और मेरा पुत्र भी मेरे लिए प्रजा है।''

महारानी के बहुत निवेदन करने पर भी राजा ने उसकी बात नहीं मानी। उसने कहा–प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व यह मेरे देश की सीमा से बाहर चला जाए। यदि सूर्योदय के बाद यहाँ दिखाई दिया तो इसे मृत्युदंड अवश्य मिलेगा। माँ! से बेटे ने कहा–माँ मुझे बचा लो। माँ ने कहा–''बेटा! मैं तुम्हारा साथ नहीं दे सकती। हाँ, रास्ते के लिए कुछ कलेवा बाँध देती हूँ, जिससे मार्ग में तुम्हें परेशानी न हो।'' माँ ने पोटली में लड्डू व कुछ रत्न बाँध दिए और कहा–''बेटा अब बाहर जाकर अपने प्राणों की रक्षा करो।

वह राजकुमार वहाँ से निकला और अपने उस मित्र के पास पहुँचा, जिसके साथ वह दिन-रात रहता था। उससे कहा–''मित्र मुझे बचा लो। मित्र ने उत्तर दिया–आपके पिता ने आज्ञा दी है कि जो राजकुमार का साथ देगा, उसे भी प्राणदंड दिया जाएगा। इसीलिए मैं तुम्हारा साथ नहीं दे सकता। जिस मित्र के साथ वह चौबीस घंटे रहता था, उसने संकट की घड़ी में साथ देने से साफ मना कर दिया।

अब राजकुमार उस दूसरे मित्र के पास गया जो दिन में चार-सात घंटे उसके साथ रहता था। उसने कहा–मित्र! मैंने तुम्हारे ऊपर बहुत धन खर्च किया है, मैं तुम्हारे साथ रहता हूँ, अब तुम मुझे बचा लो। उसने कहा–मैं तुम्हें बचा तो नहीं सकता, हाँ, देश की सीमा तक छोड़ने अवश्य जा सकता हूँ।

संयोग से राजकुमार को अपने तीसरे मित्र का स्मरण हुआ, जो विदेश में रहता था और कभी-कभी आता था।

उसके साथ राजकुमार का बहुत कम समय ही बीतता था, फिर भी उससे मिलना उसे अच्छा लगता था। राजकुमार उसके पास पहुँचा और कहा–''मित्र! मुझे बचा लो।

उस मित्र ने कहा–चिन्ता मत करो, तुम्हारे पिता तुमसे कुपित हैं, मैं तुम्हारी मृत्यु की सजा तो माफ नहीं करा सकता, किन्तु इतना अवश्य कर सकता हूँ कि मैं तुम्हें यहाँ से भी अधिक वैभव दिला दूँ। चलो मेरे साथ। मैं राजा की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता क्योंकि राजाज्ञा को भंग करना आर्थिक शत्रुता मोल लेना है। इसलिए तुम मेरे घोड़े पर बैठो। वह उसे अपने देश के राजा यानि अपने पिता के पास ले गया और बोला–''हे पिताजी! आपने मुझसे कई बार कहा–'बेटा! राज्य को संभालो, मैं दीक्षा लेना चाहता हूँ; आज मैं आपका आग्रह स्वीकार करता हूँ। मैं राज्य संभालता हूँ, आप मोक्षमार्ग पर बढ़ सकते हैं। पिताजी मेरा एक निवेदन और है–जो राज्य आप मुझे देना चाहते हैं, वह राज्य मैं अपने इस मित्र को देना चाहता हूँ।''

राजा ने कहा–''नहीं, मैं इसे नहीं, तुम्हें राज्य देना चाहता हूँ। राजकुमार ने कहा–ठीक है पिताजी! आप मुझे राज्य दे दीजिए। आप तो दीक्षा लेने जा रहे हैं; मैं अपना राज्य अपने मित्र को दे दूँगा।'' इस प्रकार उस राजकुमार ने अपने मित्र को राज्य का मालिक बना दिया।

महानुभाव! आप सोच रहे होंगे उस राजकुमार के वे तीन मित्र कौन-कौन थे? पहला मित्र, जो चौबीस घंटे उसके साथ रहता था, वह है **'शरीर'**। जब मृत्यु का बुलावा

आता है, आयुरूपी राजा कुपित होता है और जीव को इस तनरूपी नगरी से निकालना चाहता है, तब शरीर कहता है–"हाँ, अब मैं तुम्हारे साथ नहीं रह सकता; मेरा आयु कर्म पूर्ण हो चुका है।"

जो माँ के समान है–वह है–**धन-संपत्ति–**वह आपके कुछ समय की व्यवस्था तो कर सकती है किंतु पूरा साथ नहीं दे सकती। पुण्य का उदय है तो लक्ष्मी साथ रहेगी, और पाप का उदय आ गया तो वह भी साथ छोड़ देगी।

दूसरे मित्र हैं–**बहिर्जगत के संबंधी** जिनके साथ आप दो-चार घंटे रहते हैं, छह-आठ घंटे साथ उठते-बैठते हैं; किन्तु जब पाप का उदय आता है, तब वे भी साथ छोड़कर चले जाते हैं। वे बंधु-बांधव कहते हैं–हम तुमको श्मशान तक छोड़ने चले जाएँगे, किन्तु उससे आगे तुम्हारे साथ नहीं जा सकते।

और तीसरा मित्र है **'धर्म'।** वह कहता है–'चिन्ता मत करो, मैं तुम्हें यहाँ से सुखपूर्वक ले जाऊँगा। तुम्हारा कोई बाल बाँका नहीं कर सकता और वहाँ तुम्हें इससे भी अच्छा राज्य दिलाऊँगा।

धर्म का सहारा लिया तो यहाँ भी तुम्हारा कोई बाल-बाँका नहीं कर पाएगा और परलोक में भी इन्द्र जैसा वैभव प्राप्त हो जाएगा। उसे भोगने के उपरांत भी चिन्ता मत करो। यहाँ कर्मभूमि के मनुष्य बनोगे, दीक्षा लोगे तो अरिहंत व सिद्ध भगवान का राज्य भी प्राप्त कर सकोगे।

महानुभाव! धर्म से बढ़कर तीनों लोकों व तीनों कालों में इस संसारी जीव का कोई दूसरा मित्र नहीं है। इसीलिए उस धर्म के मित्र का ही आलम्बन लो, उस धर्म मित्र को ही अपने जीवन में स्थान दो और उसके वास्तविक स्वरूप को समझो।

धर्म के सिवाय इस संसार में सब भ्रम है, माया है, मोहजाल है। शरीर साथ छोड़ता है, संपत्ति यहीं रह जाती है, संबंध श्मशान की सीमा पर ठहर जाते है; केवल धर्म ही ऐसा मित्र है जो जीवन की सीमा समाप्त होने पर भी अपनी मित्रता समाप्त नहीं करता। इस सत्य को चाहे तो आज जान लो, चाहे कल, चाहे बाद में जानो किंतु कभी न कभी तो जानना ही पड़ेगा। फिर विलम्ब क्यों? जिस सत्य को अन्ततः स्वीकार करना ही है, उसे जीवन रहते समझ लेना ही विवेक है। आज बस इतना ही।

॥ श्री शान्तिनाथ भगवान की जय ॥

निर्मल चित्त-परम तीर्थ

महानुभाव! परमपूज्य आचार्य श्री विद्यानंद जी गुरुदेव एक सूत्र-वाक्य हमेशा कहा करते थे–'निर्मल आत्मा ही तीर्थ है, निर्मल आत्मा ही समयसार है।' 'तीर्थ' शब्द प्रायःकर सर्वत्र व्याप्त है और तीर्थ शब्द को सुनते ही श्रद्धालु भक्तजनों के मन में एक श्रद्धा का भाव आविर्भूत हो जाता है। तीर्थ शब्द सुनते ही ऐसा लगता है कि इसका आश्रय लेकर निःसंदेह हम संसार-सागर से पार हो जाएँगे।

लोक में तीर्थ अपनी-अपनी मान्यता, धारणा और श्रद्धा-भक्ति के अनुसार अलग-अलग हैं, प्रसिद्ध हैं, विश्रुत हैं। जैन सम्प्रदाय में जहाँ पर तीर्थंकर आदि महापुरुषों ने जन्म लिया, जहाँ दीक्षाएँ ग्रहण कीं, केवलज्ञान प्राप्त किया व जहाँ हजारों वर्षों तक समवसरण लगा रहा और जहाँ से मोक्ष प्राप्त किया-वे सभी तीर्थक्षेत्र हैं; जिनमें सिद्धक्षेत्र भी सम्मिलित हैं। और जहाँ कहीं जिनेन्द्रदेव के भक्त देवी-देवताओं के द्वारा कोई अतिशय दिखाया गया, जिससे जनमानस की श्रद्धा में वृद्धि हुई और उसे स्थिरता प्राप्त हुई, उन्हें भी लोक में तीर्थ कहा जाता है।

जैनेतर परम्परा में भी नदी, पहाड़ आदि को अलग-अलग कारणों से तीर्थ मानते हैं। इसके साथ-साथ अन्य भी तीर्थ कहे जाते हैं; जैसे **रत्नत्रय तीर्थ है, निर्ग्रन्थ साधु भी तीर्थ हैं।** वर्तमान काल में जो क्षेत्र बनाए जा रहे हैं, उन क्षेत्रों पर

रहकर साधक साधना कर रहे हैं, तो उनके लिए वह भी तीर्थ रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। **तरन्ति येन संसार-सागर-मिति तीर्थम्** जिसके द्वारा जीव संसार-सागर को पार करते हैं, वे सभी तीर्थ हैं। तीर्थ के संबंध में कहा गया है–

ज्ञानं तीर्थं धृतिस्तीर्थं, दानं तीर्थमुदाहृतम्।
तीर्थानामपि तत्तीर्थं विशुद्धिर्मनसः परा।।

ज्ञान भी तीर्थ है। आपको ज्ञात होगा, जब पाण्डव सम्यक्त्व को उपलब्ध नहीं हुए थे-उस समय वे लोक-मान्यता का अनुपालन करते हुए गंगा आदि तीर्थों में अवगाहन करने जा रहे थे। वैदिक परम्परा में नद, नदी, झील, समुद्र आदि में स्नान करने की परम्परा रही है। कुछ लोगों की ऐसी मान्यता है कि गंगा में स्नान करने से पाप धुल जाते हैं। कहते हैं–**'गंगा पापं शशि तापं....।'**

गंगा में स्नान करने से पाप शान्त होते हैं और चन्द्रमा की शीतल चाँदनी में बैठने से तन का ताप शान्त होता है। अतः वे पाण्डव तीर्थयात्रा के लिए जा रहे थे। नारायण श्रीकृष्ण से भी उन्होंने अनुनय-निवेदन किया–"आप भी हमारे साथ तीर्थयात्रा के लिए चलिए। उन्होंने कहा–इन बाह्य तीर्थों में स्नान करने से देह की शुद्धि तो हो सकती है, किन्तु आत्मा की शुद्धि नहीं हो सकती है।"

किन्तु उस समय पाण्डवों ने कहा–ऐसा नहीं है, संसार के इतने लाखों लोग गंगा-स्नान हेतु जा रहे हैं, क्या वे सब मूर्ख हैं? वे सब अपनी आत्मा को शुद्ध बनाने जा रहे

हैं, आप भी चलिए, आप हमारे परम मित्र हैं। श्रीकृष्ण ने उनकी मनः स्थिति को समझा। उन्होंने सोचा–अभी इन्हें समझाने का समय नहीं है। अनुभव स्वयं इन्हें समझाएगा। जब व्यक्ति समझ नहीं रहा हो तब उसके साथ समझाने का समय व्यर्थ करना मूर्खता है, श्रम का भी दुरुपयोग है। इसीलिए उन्होंने कहा–अभी समय अनुकूल नहीं है। तुम लोग तीर्थयात्रा कर आओ। कहते हैं न गर्म लोहे पर चोट मारो तो साकार होती है, ठंडे लोहे पर ठुक-ठुक करते रहने से केवल श्रम व्यर्थ होता है।

पाण्डव जब तीर्थयात्रा के लिए चलने लगे तो नारायण श्रीकृष्ण ने उन्हें एक कड़वी तूमड़ी देते हुए कहा–"देखो, मैं तो तुम्हारे साथ नहीं जा पा रहा हूँ, पर मेरी इस तूमड़ी को अपने साथ लेते जाओ। जिस-जिस तीर्थ में तुम स्नान करो, इसे भी वहाँ स्नान करा देना।"

पांडव उसे साथ ले गए। गंगा आदि अनेक तीर्थों में उन्होंने स्नान किया और श्रीकृष्ण के कहे अनुसार प्रत्येक तीर्थ पर उस तूमड़ी को भी प्रत्येक पांडव ने स्नान कराया। इस प्रकार 108 तीर्थों की यात्रा पूर्ण करके वे लौटकर आए और नारायण श्रीकृष्ण से कहने लगे–"हमें बहुत आनंद आया, आप भी चलते तो बहुत अच्छा लगता।" नारायण श्रीकृष्ण ने कहा–"अरे भाई! बुरा क्यों मानते हो, मैंने आपको फल दिया था, सोच लेते कि मैं आपके साथ ही था।" वे बोले–"हाँ-हाँ, वह सब तो ठीक है। हमने आपके

प्रदत्त फल को स्नान कराया, हमने तो प्रत्येक तीर्थ एक बार स्नान किया, उसने पाँच बार किया।

‘‘अरे वाह पाण्डवों! फिर तो मेरा वह फल बहुत पवित्र, पावन और उत्तम हो गया होगा। तीर्थक्षेत्र में स्नान करने से जैसे आपकी आत्मा अमृततुल्य हो जाती है, वैसे ही वह फल भी अमृतोपम हो गया होगा।’’ उन्होंने हाथ में वह तुमड़ी ली और उसके छोटे-छोटे टुकड़े करके सभी को प्रसाद रूप में बाँट दिए। पांडवों ने जैसे ही उसे मुख में रखा कड़वाहट के कारण तत्काल थूक दिया। श्रीकृष्ण ने आश्चर्य का अभिनय करते हुए कहा—भो पाण्डवों! तुमने तूमड़ी का नहीं तीर्थों का अपमान किया है। तीर्थस्नान से पवित्र फल को भी प्रसाद मानकर ग्रहण नहीं किया!

पांडव बोले—आप कैसी बात कह रहे हैं, यह तो अत्यंत कड़वी, जहर समान है। यह कड़वी तूमड़ी यदि हमारे पेट में जाती तो हमारी मृत्यु ही हो जाती। नारायण श्रीकृष्ण बोले—‘‘कड़वी? यह कैसे हो सकता है? तुम तो इसे 108 तीर्थों में स्नान कराकर लाए हो। एक-एक तीर्थ पर कई-कई बार डूबोया है। इतने तीर्थों के पवित्र जल में स्नान करने के बाद भी इसकी कड़वाहट नहीं गई। पाण्डव निरुत्तर हो गए। तब पुनः श्रीकृष्ण ने उन्हें समझाया।

आत्मानदी संयमतोयपूर्णा, सत्यावहा शीलतटा दयोर्मि।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डु पुत्र! न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा।।

आत्मा रूपी नदी में संयम रूपी जल भरा है, जिसमें सत्य का प्रवाह है, शील जिसके तट हैं और दया रूपी लहरें

उठ रहीं हैं। उस आत्म-नदी रूपी तीर्थ में, हे पाण्डुपुत्रों! तुम अवगाहन करो। मात्र जल में स्नान करने से यह आत्मा शुद्ध नहीं होती।

महानुभाव! यहाँ 'ज्ञानतीर्थ' के संबंध में कह रहे थे। जैसे बालक को यदि जल से भरा टब मिल जाए तो वह उसमें बैठकर जल उछालता है, उसमें डूबता है, बैठता है, खड़ा होता है, फिर पानी में हाथ मारता है; ऐसा करने में बहुत आनंद आता है; ऐसे ही एक साधु व योगी ज्ञान में अवगाहन करता है, स्वाध्याय करता है, वाचना करता है, पृच्छना करता है, किसी विषय को याद करता है या उपदेश आदि देता है तो उसे बहुत आनंद आता है। वह ज्ञान आनंद का कारण है। जैसे दीपक प्रकाश का कारण है, जैसे मिष्ट फल आपकी जिह्वा के लिए मिठास का कारण है, वैसे ही ज्ञान सुख का कारण है।

कोई महिला सुंदर और श्रृंगारित भी हो, किन्तु उसके सिर पर बाल नहीं हों तो वह कैसी लगेगी? विद्रूप सी लगेगी। किन्तु जिस महिला के सिर पर सघन बाल हैं, वह सहज सुंदर लगती है। जैसे बालक को जल आनंद देता है, महिलाओं को उनके घने बाल शोभा देते हैं, वैसे ही साधु को ज्ञान आनंद देता है।

सुखी मीन जे नीर अगाधा।
जिमि जिन सरणों न एकउ बाधा।।

यहाँ कहा—**ज्ञान ही तीर्थ है।** साधु को एक बार आहार न मिले तो चलेगा, किन्तु स्वाध्याय न मिले तो साधु का

मन बेचैन हो जाता है। गुरु मुख से आगम-अमृत न मिले तो कर्ण परेशान हो जाते हैं। अतः ज्ञान भी तीर्थ है। इसके माध्यम से भी आत्मा में आनंद आता है। ज्ञान का आलंबन लेकर भी आत्मा संसार-सागर से पार होती है।

द्वितीय तीर्थ कहा-**'धृतितीर्थं'**, धैर्य भी तीर्थ है। संयम धारण करो, यह भी तीर्थ है। व्यक्ति आकुल-व्याकुल होता है-मुझे यह मिले, वह मिले; दौलत, शोहरत, इज्जत आदि को प्राप्त करने के लिए अपना सर्वस्व लगा देता है, किन्तु फिर भी प्राप्त नहीं कर पाता। पुण्य कार्य में यदि वह लगा रहे तो बिना माँगे सब कुछ मिल जाता है। धर्म का फल ऐसा ही होता है। आप पढ़ते भी हैं-

जाँचे सुरतरु देय सुख, चिंतत चिंतारैन।
बिन जाँचे बिन चिंतए, धर्म सकल सुख देन।।

याचना करने पर कल्पवृक्ष फल देते हैं, चिंतन करने पर चिंतामणि रत्न फल देता है और कामधेनु गाय भी कामना करने पर फल देती है। किन्तु यह सब याचना, कामना और चिंतन करने पर मिलता है। एक धर्म ही ऐसा है जो बिना याचना, बिना चिंतन के, बिना कल्पना के सर्व प्रकार के सुख देने में समर्थ होता है।

महानुभाव! धैर्य भी एक तीर्थ है। जिसके चित्त में धीरज हो, वह भी वीर की भाँति आत्मा का हित करने में समर्थ होता है।

आगे कहा **'दानतीर्थ'** श्रावक कहता है–संसार–सागर से पार करने के लिए दान ही उत्तम नौका है। उत्तम पात्रों को नवधाभक्ति पूर्वक, दाता के सप्तगुण रूपी भूषण से युक्त होकर, पंच दूषण से रहित होकर जो दान दिया जाता है, उस दानतीर्थ से बढ़कर और कौन सी उत्तम नौका होगी? वही सबसे बड़ा तीर्थ है।

दान तीर्थ में अवगाहन करने से राजा श्रेयांस ने मोक्ष प्राप्त किया। और भी कितने राजा–महाराजा हुए, जिन्होंने तीर्थंकरों को आहार दिए। ऐसे महान दाता अचिरकाल में मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं। इतिहास में ऐसे दाताओं के नाम प्रसिद्ध हैं, जिन्होंने आहार दान देकर सातिशय पुण्य का अर्जन किया; चाहे चंदनबाला हो, अग्निला ब्राह्मणी हो, राजा कूल हो अथवा राजा श्रीषेण हों; चाहे जो भी दान देने वाले रहें हों, उनका यश स्वयमेव वृद्धि को प्राप्त हुआ। अतः **दान भी तीर्थ है।**

सम्यक्त्व भी तीर्थ है, ज्ञान भी तीर्थ है, दान भी तीर्थ है, तप भी तीर्थ है, चारित्र भी तीर्थ है, आत्मा का ध्यान भी तीर्थ है–ये सब तीर्थ हैं। किन्तु यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं कि सर्व तीर्थों में उत्कृष्ट तीर्थ तो वही है, जिससे मन विशुद्ध हो और चित्त निर्मल हो। आप पढ़ते हैं–

चलो करें हम तीर्थ वंदना, अवसर बड़ा महान है।
जहाँ जीव को मिले शान्ति, वही तीर्थ स्थान है।

महानुभाव! ये तीर्थ भव्य जीवों की शांति के कारण हैं। तीर्थ आध्यात्मिक ऊर्जा के केन्द्र हैं। तीर्थ सुखों की बरसात करने वाले हैं, तीर्थ दु:खों का अपहरण करने वाले होते हैं। जैसे सूर्य के प्रचण्ड ताप से कीचड़ सूख जाती है, वैसे ही तीर्थों के प्रभाव से हमारे पाप सूख जाते हैं। जैसे सूर्य के प्रचण्ड ताप से मिट्टी में उर्वरा शक्ति आती है, वैसे ही तीर्थ के माध्यम से हमारी आत्मा में उर्वराशक्ति स्वरूप गुणों का संवर्धन होता है। जैसे सूर्य के माध्यम से कमल खिलते हैं, वैसे ही तीर्थ में पहुँचकर हमारा मन और चित्त खिल उठता है। जैसे सूर्य के माध्यम से फलों में मिठास आती है, वैसे ही तीर्थों में जाकर के हमारे चित्त में आनंद का आविर्भाव हो जाता है। जैसे सूर्य के माध्यम से फसल पकती है, वैसे ही तीर्थों में जाने से हमारी पात्रता पकती है, हमारे चित्त से विषय-वासना घुलती है। संसार, शरीर, भोगों से विरक्ति होने लगती है तथा हमारा मन आत्महित में संलग्न हो जाता है।

महानुभाव! अपने चित्त को निर्मल बनाकर रखना ही संसार में सबसे बड़ा तीर्थ है। निर्मल चित्त स्वयं एक निर्मल तीर्थ है, उसी में अपने चित्त को अवगाहन कराओ, तभी शाश्वत सुख-शांति की प्राप्ति हो सकेगी।

॥ श्री शान्तिनाथ भगवान की जय ॥

वजन नहीं, भजन बढ़ाइए

महानुभाव! आज चर्चा करते हैं वृद्धों के संबंध में। जहाँ वृद्ध हैं, वह समाज समृद्ध है। वृद्ध अवस्था में क्या करना चाहिए? क्या बढ़ाना चाहिए–वजन या भजन? शरीर का वजन बढ़ाना है या प्रभु–परमात्मा का भजन बढ़ाना है? जो वृद्धा–अवस्था में भी शरीर का वजन बढ़ाने में ही संलग्न हैं, मानो वे अपने संसार को ही बढ़ा रहे हैं। किंतु जिन्होंने वृद्धावस्था में प्रभु–परमात्मा की भक्ति, स्तुति, वंदना, उपासना और भजन को चुन लिया है, वे निःसंदेह संसार–सागर से पार होने की नौका पर सवार हैं। वे अपने अतीत व अनागत को सुधारते हुए, वर्तमानकाल में भी समुचित आनंद ले रहे हैं।

वृद्ध यूँ तो कई प्रकार के होते हैं। एक होता है **शरीर से वृद्ध**–शरीर जर्जर हो गया, जरा आ गई; किन्तु जर, जोरु और जमीन से मोह अभी भी नहीं छूटा। जरा आने पर तो कम से कम निर्जरा तत्त्व को प्राप्त कर लो। वृद्धावस्था में संयम को अंगीकार कर संवर तत्त्व को प्राप्त कर लो।

एक होता है **ज्ञान से वृद्ध**, एक होता है **तप से वृद्ध**, एक होता है **अनुभव से वृद्ध**, एक होता है **ध्यानस्थ तत्त्व –चिंतन से वृद्ध।**

हम यहाँ जो देह से वृद्ध हैं, उसकी चर्चा कर रहे हैं। उसका लक्षण कहा है–

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं, दशनविहीनं जातं तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं, तदपि न मुञ्चत्याशा पिण्डम्।।

जो शरीर से वृद्ध हैं, उनकी दशा यहाँ कही गई है। यद्यपि यह स्थिति सभी वृद्धों की नहीं होती, तथापि अधिकांश वृद्धावस्था में शरीर के अंग-उपांग शिथिल होने लगते हैं। **'अंगं गलितं'** शरीर के अंग शिथिल हो गए। पैरों से चलते हैं तो लड़खड़ाहट आने लगती है; पैर जहाँ रखना चाहते हैं, वहाँ न पड़कर कहीं और पड़ता है। शरीर कम्पायमान होता है, हाथ-पाँव भी कांपने लगते हैं।

ऐसे समय में उन्हें अपनी युवावस्था की याद आती है कि जब हम युवा थे, तब शरीर में कितना पराक्रम व शौर्य था, अद्‌भुत सामर्थ्य था। दौड़ते हुए वृक्ष की चोटी पर चढ़ जाते थे और ऊपर से कूद भी जाते थे। किंतु आज शरीर की स्थिति कितनी बदल गई! किसी ने ठीक ही कहा है–

जवानी और बुढ़ापा भी क्या तेवर बदलते हैं।
पहले हिल-हिलकर चलते थे, आज चलने में हिलते हैं।।

युवावस्था में हाथी की-सी चाल थी। उस समय धन-वैभव का भी अभिमान था; रूप-सौन्दर्य, पद-प्रतिष्ठा-सब कुछ था। किन्तु अब वृद्धावस्था में पैर लड़खड़ाने लगे, हाथों से सामान छूटने लगा। कभी-कभी तो थाली में से ग्रास उठाकर मुख तक ले जाना भी कठिन हो जाता है। दाँतों की दन्तावली टूट गयी, आँखों की ज्योति घट गई।

चाल चली अटपटी, हाड़ों ने संध छोड़ी,
दांतों की पंक्ति तोड़ी।
लोचन झड़त पानी, आयो रे बुढ़ापा मानी,
सुध-बुध सब बिसरानी॥

वृद्ध अवस्था में आँखों से पानी बहने लगा, सारे दाँत टूट गए, कुछ बोलना चाहते हैं तो मुँह से कुछ और ही निकल जाता है। कानों से कुछ का कुछ सुनाई देता है, आँखों से स्पष्ट दिखाई नहीं देता, शब्द स्पष्ट नहीं निकलते और गर्दन भी हिलने लगी है। बाल भी श्वेत हो गए; चलो तो साँस फूल जाती है और सो जाएँ तो कमर अकड़ जाती है। बड़ी मुश्किल है—अब क्या करें?

महानुभाव! ऐसी वृद्धावस्था आ गई, फिर भी आशा का पिण्ड छूटता नहीं। सबको ज्ञात है कि अब वृद्ध अवस्था के बाद न बाल्यावस्था लौटकर आएगी, न यौवन और न प्रौढ़ अवस्था; अब तो मृत्यु ही आनी है। उसके बावजूद भी मन में कल्याण का भाव जागृत नहीं होता। चलो बाल्यावस्था में कल्याण नहीं किया तो संतोष है कि युवावस्था में कर लेगा; युवावस्था में नहीं कर पाए, तो चलो प्रौढ़ावस्था आएगी; तब भी नहीं कर पाया तो वृद्ध अवस्था में। अब यदि यहाँ पर भी कल्याण का मार्ग प्रारंभ नहीं हुआ तो फिर कल्याण कब होगा?

यहाँ यही कहा जा रहा है कि वृद्ध अवस्था में शरीर शिथिल हो रहा है, तो भव-कर्मों का बंधन भी शिथिल होना चाहिए। सिर धवल हो गया है तो परिणाम भी धवल

हों। शरीर का गात, मांस, मज्जा, मेधा घट रहा है तो तृष्णा भी घटे, आशाएँ भी घटें, बढ़े नहीं। न तो शरीर का भार बढ़े और न कर्मों का भार बढ़े; अब तो आभार व्यक्त करो, सबके प्रति आभार; सबके प्रति प्यार और दूसरों के लिए धर्म का आधार बनो। जीवन के सार को खोजो। जो बीत गया, वह निःसार है, जो सार रह गया है उसे प्राप्त करो। कुएं में बाल्टी तो डाल दी, रस्सी भी बाँध दी किंतु रस्सी का अंतिम छोर ही हाथ में नहीं रखा, तो परिणाम यह हुआ कि रस्सी भी गई और बाल्टी भी चली गई।

इसीलिए यह वृद्ध अवस्था रस्सी का अंतिम छोर है। यदि आप साठ वर्ष से ऊपर हो गए हैं तो मोह की नींद को तोड़ दो। क्योंकि आज के समय में साठ साल की उम्र भी कम नहीं है। भगवान महावीर स्वामी तो बहत्तर वर्ष की उम्र में ही मोक्ष को प्राप्त हो गए। जो इस समय बहत्तर वर्ष के हो गए हैं, वे यही विचार करें हम तो महावीर स्वामी की आयु के बराबर पहुँच गए, फिर भी हमारे मन में आत्म कल्याण की बात नहीं आ रही!

जिस आयु में भगवान ने संसार से मुक्ति प्राप्त कर ली, उस आयु में पहुँचकर भी यदि हम संसार में ही और अधिक उलझने की सोच रहे हैं, तो यह विचारणीय है। और जो इसके ऊपर पहुँच गए तब तो बेईमानी है। आखिर हम चाहते क्या हैं?

महानुभाव! यद्यपि कल्याण का मार्ग उम्र पर निर्भर नहीं है, वह तो भावना पर निर्भर है। संसार, शरीर और भोगों से

विरक्ति चाहे आठ वर्ष में हो जाए, चाहे दस वर्ष में, चाहे बीस या तीस में—जब भी हो जाए, तभी व्यक्ति आत्महित कर सकता है। अंधकारमय जीवनरूपी कक्ष में जैसे ही सम्यग्ज्ञान रूपी दीप का प्रकाश होता है, मार्ग दिखाई देने लगता है; फिर कदम स्वतः ही उस दिशा में बढ़ने लगते हैं।

वृद्धावस्था में जब मोह-ममता कम होने लगती है, तब स्वतः ही उसका उपयोग स्वाध्याय, तत्त्वचिंतन, प्रभुभक्ति, जाप और अन्य धार्मिक क्रियाओं में अधिक लगने लगता है; उसके वचन व काय धर्म से अनुस्यूत क्रियाओं में लगते हैं। शरीर शिथिल होने से भले ही धर्म-क्रियाएँ कम हों, किन्तु उसका भाव निरन्तर धर्म में उपयोग लगाने का रहता है।

नेत्रों को बंद करके कभी वह भगवान के समीप बैठ जाता है, कभी सम्मेदशिखर की यात्रा करता है, कभी सिद्धक्षेत्रों की वंदना करता है, कभी मनोहारी जिनबिम्बों के दर्शन करता है; कभी अहिच्छत्र के पार्श्वनाथ भगवान, कभी आहारजी के शांतिनाथ भगवान, कभी सांगानेर के आदिनाथ भगवान, कभी श्रवणबेलगोल के बाहुबली भगवान, कभी सोनागिर के चन्द्रप्रभ भगवान, कभी चाँदखेड़ी के आदिनाथ भगवान, कभी कुण्डलपुर के बड़े बाबा, कभी महावीर जी के महावीर भगवान—इस प्रकार विभिन्न सिद्ध एवं अतिशय क्षेत्रों के भगवान और वहाँ विराजमान जिनबिम्ब उसके चित्त की विशुद्धि में निमित्त बनते हैं। और वहाँ विराजमान प्रभु-परमात्मा की भक्ति में जैसे-जैसे मन रमने लगता है,

भीतर की कषाएँ भी शान्त हो जाती हैं, और मन धर्मध्यान में लग जाता है।

महानुभाव! एक क्षण का किया हुआ क्रोध अथवा अहंकार, एक क्षण की मायाचारी अथवा लोभ-प्रवृत्ति न जाने कितने घंटे और कितने दिनों को खराब कर देती है। क्रोध तो एक क्षण में आकर चला जाता है, किंतु उसे शान्त होने में अन्तर्मुहूर्त भी लग सकता है और कभी घंटा, पहर अथवा दिनभर भी लग सकता है, इसीलिए ध्यान रखो कि ऐसे क्रोध का भूत आप पर आए ही नहीं, लोभ की अग्नि प्रज्ज्वलित न हो; वहाँ मायाचारी का तेजाब बरसे ही नहीं और मेरा चित्त अहंकार की चट्टान जैसा दृढ़ न बने। जीवन की संध्या में कषायों को पुष्ट नहीं, क्षीण करना है।

इस वृद्धावस्था में प्रभु-परमात्मा के प्रति अपनी भक्ति को बढ़ाओ। जैसे धन कमाने वाला व्यक्ति दिन-रात मेहनत करता है और उसे सर्वत्र धन ही दिखाई देता है—कैसे और अधिक कमाऊँ, व्यापार कैसे बढ़ाऊँ, संचित धन का कहाँ विनियोग करूँ, किस दिशा से और आय हो सकती है—उसका मन निरंतर इसी चिंतन में लगा रहता है; वैसे ही वृद्ध अवस्था में व्यक्ति पुण्य का संग्रह करता है और आत्मविशुद्धि को बढ़ाता है। वह निरीह वृत्ति को बढ़ाता है।

जीवन में जो कुछ मुझे चाहिए था, जो मेरी जिद पूरी हो सकती थी, वह तब हो सकती थी जब मेरे माता-पिता थे। उसके बाद यौवन अवस्था में अपनी सामर्थ्य के अनुसार

जितनी मेरी चादर थी, उतने ही पैर फैलाए; अपनी इच्छाओं के अनुसार जीवन को चलाया और प्रौढ़ अवस्था में मेरा जितना पुण्य था, उतना मेरे परिवारीजनों ने किया।

वृद्ध अवस्था में सबका सहारा छोड़कर एक परमात्मा का आलम्बन लो। उनका आलम्बन लेते ही आपके रोग निवारण होते हैं, मन के संशय, संकट, दुविधाएँ, प्रतिकूलताएँ सब दूर होती जाती हैं और मोह की वृत्ति भी कम होती जाती है।

महानुभाव! वृद्ध अवस्था में क्या करना है? वजन नहीं बढ़ाना है–न तो मोह का वजन, न कषायों का वजन और न कोई बैर-विरोध-विद्वेष भावों का वजन। केवल समत्व भाव को बढ़ाना है, भजन को बढ़ाना है। कर्मों का वजन नहीं बढ़ाना है। वृद्ध अवस्था में तन पर नहीं चेतन पर ध्यान लगाना है। अपने आपको भगवान आत्मा मानकर चिंतन करो–हे प्रभु! ''आत्मस्वभाव परभाव से भिन्न है।'' समयसार की आत्मख्याति टीका में अमृतचन्द्र सूरी जी ने कहा–इस भिन्नता का बोध ही भेद विज्ञान है।

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।

भेदविज्ञान से ही जीव सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे। अतः आप जो भी कर्मों से बंध रहे हैं, वे भेदविज्ञान के अभाव से बंध रहे हैं। जिन्हें भेदविज्ञान हो गया है, संभवतः उनके जीवन में कर्म का बंध कम होता है और कर्म की निर्जरा ज्यादा होती है।

अतः संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जिनकी वृद्ध अवस्था आ चुकी है तथा जिनकी वृद्धावस्था आने वाली है, वे सब पहले से सोच लें, अपनी जीवनचर्या को व्यवस्थित कर लें कि मुझे क्या करना है। बुद्धिमान व्यक्ति वही है जो अपनी दिनचर्या को पहले से सुव्यवस्थित करता है और धर्म से अनुस्यूत जीवन जीता है। विवेकी व्यक्ति अपने कार्य को सोच समझकर करता है और प्रत्येक क्रिया को आत्म विशुद्धि का निमित्त बनाने का प्रयास करता है। जो सोच-समझ कर, सूझबूझ से काम नहीं करता वह जीवन के महत्वपूर्ण अवसरों को भी व्यर्थ कर देता है।

महानुभाव! वृद्धावस्था में वजन को नहीं, भजन को बढ़ाना है, यही वास्तव में श्रेयस्कर है। क्योंकि वृद्ध अवस्था के उपरांत आगे दूसरी अवस्था संभावित नहीं है; अब तो मृत्यु ही है। इसलिए मृत्यु आकर आपको उठाकर ले जाए उसके पहले आप स्वयं संसार से ऊपर उठ जाओ। अर्थात् संसार, शरीर, भोगों के प्रति जो आसक्ति है उससे विरक्त हो जाओ, तो मृत्यु भी आपका स्वागत करेगी। वह कहेगी-धन्य हैं ऐसे तपस्वी, धन्य हैं ऐसे जीव जिन्होंने अपना जीवन सफल व सार्थक किया। जिन्होंने वृद्धावस्था को विवशता नहीं, विरक्ति का हेतु बनाया। आज बस इतना ही....।

॥ श्री शान्तिनाथ भगवान की जय ॥

सद्‌उपयोग का विवेक

महानुभाव! जीवन बहुत छोटा-सा है। जब किसी को समय कम मिले, तब आवश्यक है कि वह उपलब्ध समय में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्यों को प्राथमिकता देकर पहले सम्पन्न कर ले। परीक्षा के समय परीक्षार्थी एक-एक क्षण का सदुपयोग करता है। परीक्षा-भवन में बैठे परीक्षार्थी आपस में गपशप नहीं करते, प्रश्नपत्र हाथ में आते ही उत्तर लिखना प्रारंभ कर देते हैं, क्योंकि उन्हें मालूम है कि समय का दुरुपयोग करना अपना घात करने के बराबर है।

समय का सदुपयोग करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए परम आवश्यक है। जिसे जो अवसर प्राप्त हुआ है, वह उस अवसर का पूरा लाभ लेने का प्रयास करता है। किसान के खेत में वर्षा होने के बाद जैसे ही थोड़ी ओट आती है, वह जुताई के लिए तैयार हो जाता है। वह जानता है कि यदि अनुकूल समय निकल गया तो बाद में जुताई कठिन हो जाएगी और यदि अवसर चूक गया तो पुनः मेहनत करनी पड़ेगी। उसे मौका मिला, हवा अनुकूल चल रही हो, तो उसी समय उड़ावनी कर लेनी चाहिए अन्यथा प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। अब तो कृषि-यंत्रों के माध्यम से कार्य शीघ्र सम्पन्न हो जाते हैं, किन्तु सिद्धान्त वही है-**कार्य वही सफल होता है, जो उचित समय पर किया जाए।**

महानुभाव जीवन में समय की ही कीमत है। और सही अर्थों में देखें तो **समय ही जीवन है।** जन्म से लेकर मृत्यु

तक के बीच जो काल हमें प्राप्त हुआ है, वही जीवन है। काल की समाप्ति यानि आयु समाप्त, जीवन समाप्त। इसलिए जीवन का सही सदुपयोग करना चाहिए।

महानुभाव! थोड़े–से समय में महत्वपूर्ण कार्यों को करना अधिक आवश्यक है। यदि किसी परीक्षा के समय तीन दिन का अवकाश मिला, यदि उस समय विद्यार्थी अपने विषय को दोहराए, अभ्यास करे, तब तो ठीक है; किंतु यदि तीन दिन की छुट्टी घूमने–फिरने में बिता दे, तो संभव है कि याद किया विषय भी विस्मृत हो जाएगा, परीक्षा के समय वह अटककर रह जाएगा। कारण केवल इतना है कि उसने प्राप्त समय का सही सदुपयोग नहीं किया।

किस समय में क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए–इसका विवेक जिसके पास है, वही वास्तव में ज्ञानी–विवेकी है। जिसके पास यह विवेक बुद्धि नहीं है वह कितना भी पढ़ा–लिखा क्यों न हो, किन्तु उसे तो मूर्ख शिरोमणि की उपाधि से अलंकृत करना चाहिए। क्योंकि जो समय पर अपना कार्य नहीं कर पाता, उसकी विद्वत्ता भी व्यवहारिक जीवन में अधूरी रह जाती है।

अतः किस समय पर क्या कार्य करना है, यह ज्ञान होना भी जरूरी है। यदि उचित कार्य भी अनुचित समय पर किया जाए तो वह प्रशंसा का नहीं, निंदा का कारण बन सकता है। यदि कोई व्यक्ति प्रातःकाल का कार्य संध्याकाल में करे और संध्याकाल का कार्य प्रातःकाल करे तो वह यथेष्ट

सफलता को तो प्राप्त करता ही नहीं, वरन् लोकव्यवहार में निंदा व तिरस्कार को भी प्राप्त होता है।

महानुभाव! संसार में पदार्थ अनेक प्रकार के हैं—इष्ट रूप भी हैं, अनिष्ट रूप भी, पुण्य रूप भी हैं, पाप रूप भी; अनुकूल भी हैं प्रतिकूल भी; अच्छे भी हैं, बुरे भी; सुखद भी हैं, दुखद भी; हानिकारक भी हैं और लाभकारक भी। अतः कब, किस पदार्थ का सेवन कैसे करना है, यह जानना भी परम आवश्यक है। जिस मौसम में जो फल-सब्जी आती है, उसका सेवन करना लाभदायक होता है—ऐसा आयुर्वेदाचार्य कहते हैं। बिना मौसम के फल-सब्जी को सेवन करने का आग्रह नहीं करना चाहिए। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुरूप वस्तु का उपयोग करना वरदान स्वरूप होता है, अन्यथा वही अभिशाप का रूप ले सकता है।

महानुभाव! केवल खाना ही पर्याप्त नहीं, क्या खाना है-इसका ज्ञान होना भी जरूरी है। आहार तो सभी जीव करते हैं, एकेन्द्रिय जीव भी आहार करता है; उसमें आहार-संज्ञा है, किन्तु विवेकशील मनुष्य ही यह जान सकता है कि क्या भक्षणीय है और क्या अभक्षणीय। स्थावर नहीं जानते कि क्या भक्षण करना है, किन्तु फिर भी अपने संवर्धन के लिए जल, खाद, सूर्य का प्रकाश, कार्बनडाइऑक्साइड आदि ग्रहण कर लेते हैं। दो इन्द्रिय जीव भी अपनी आवश्यकता के अनुरूप आहार ग्रहण कर लेते हैं—कोई सूँघकर, कोई स्पर्श कर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेते हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य ही इसमें सबसे ज्यादा गड़बड़ करता है।

देव आहार नहीं करते; उनके कंठ से अमृत झरता है। उन्हें ज्ञात है कि उसका सेवन कब करना है। समय निश्चित होने पर जितनी सागर की आयु है, उतने हजार वर्षों में एक बार कंठ से अमृत झरेगा। जितने सागर की आयु है उतने पक्ष में एक बार श्वास लेगा, वहाँ सब निश्चित है।

नारकियों के लिए भी व्यवधान नहीं है; भले ही वहाँ निरंतर मारकाट चल रही है, वहाँ की दुर्गन्धित मिट्टी भी वे खा लेते हैं।

भोगभूमि के जीवों के आहार और उसकी मात्रा का समय निश्चित है। उत्तम भोगभूमि वाले तीन दिन में एक बार महुआ के बराबर, मध्यम वाले दो दिन में एक बार बहेड़ा के बराबर और जघन्य वाले एक दिन में एक बार आँवला के बराबर आहार ग्रहण करते हैं। कुभोगभूमिज भी वहाँ की सुगन्धित मिट्टी खाते हैं। कर्मभूमि के तिर्यंच भी प्राय:कर खाने के पहले सूँघ लेते हैं। विषाक्त वस्तु मनुष्य भले ही धोखे से खा ले किन्तु तिर्यंच नहीं खा पाएगा, उसे धोखे से कोई खिला दे तो बात अलग है।

विडम्बना यह है कि मनुष्य खाना तो जानता है, किन्तु कई बार क्या खाना है, कितना खाना है और क्या नहीं खाना है–यह विवेक भूल जाता है। शाक-सब्जी खाना है या माँस, फल खाने हैं या अंडा, दूध-छाछ पीना है या शराब। जो इस भेद को नहीं जानता, वह दुर्गति का पात्रता बनता है, और जो जानता है, वह स्वयं को दुर्गति से बचाकर सुगति में ले जाता है।

महानुभाव! यही बात वाणी पर भी लागू होती है। बोलना भी बहुत लोग जानते हैं; दो इन्द्रिय से रसना इन्द्रिय प्रारंभ हो जाती है, किन्तु क्या बोलना, कब बोलना, कैसे बोलना, कितना बोलना है और क्यों बोलना है; इस बात को विरले ही लोग जानते हैं। पशु-पक्षियों में बोलने के ऊपर झगड़े कम होते होंगे किन्तु मनुष्यों में तो बात-बात पर झगड़े हो जाते हैं; कभी-कभी तो शब्दों से प्रारम्भ हुआ विवाद महाभारत जैसा रूप ले लेता है।

कपड़ों को पहनने का सलीका न हो तो लोग उपहास उड़ाते हैं, किंतु शब्दों को बोलने का सलीका न हो तो केवल उपहास नहीं, संबंध भी टूट जाते हैं। मित्रता शत्रुता में बदल जाती है, सुख दुःख में बदल जाता है, अनुकूलता प्रतिकूलता में बदल जाती है, पुण्य बंध के स्थान पर पाप बंध हो जाता है। अतः बोलने का सलीका भी आवश्यक है।

महानुभाव! सुनने वाले पंचेन्द्रिय जीव हैं, सुन सकते हैं; किन्तु यह जानना बड़ा मुश्किल है कि हमें क्या सुनना है। गाली-गलौज, अश्लील गाने सुनें अथवा जिससे कषाय शांत हो, ऐसे आत्मा को हितकारी सुखद वाक्य सुने। मात्र कान प्राप्त कर लेना पर्याप्त नहीं है, ये भी आवश्यक है कि उनका उपयोग कैसे करना है। चार इन्द्रिय प्राणियों ने देखने के लिए चक्षु इन्द्रिय प्राप्त की, किन्तु देखने की सामर्थ्य होते हुए भी यह जानना जरूरी है कि देखना क्या है।

क्या दूसरों की गंदगी, बुराई, लड़ाई-झगड़े देखने हैं? अथवा प्रभु-परमात्मा की छवि निहारनी है, किसी साधु-संत,

महात्मा, भावी भगवान को देखना है। हमें देखना क्या है? क्रोध को या क्षमा-भाव को, अहंकार को या विनयशीलता को। यह भी तो हमारे पास ज्ञान होना चाहिए। इतना विवेकज्ञान होने पर ही इन इंद्रियों की प्राप्ति होना सार्थक माना जाएगा।

महानुभाव! दुनिया में पढ़े-लिखे लोग भी हैं, अनपढ़ लोग भी हैं। साक्षर होना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है; किन्तु यह अवश्य बहुत बड़ी बात है कि हम पढ़े-लिखे होने के बावजूद भी कितने गुणी बने। वस्तु के होने से ज्यादा आवश्यकता है उसके समीचीन सदुपयोग की।

आपने पढ़ा कि अग्नि बहुत आवश्यक है—उसके माध्यम से अनेक कार्य होते हैं; प्रकाश भी होता है, भोजन भी बनता है, और अनेक विद्युत उपकरण भी संचालित होते हैं। अग्नि हमारे लिए अत्यंत उपयोगी है; किन्तु कोई पढ़ा-लिखा व्यक्ति उसी अग्नि से अपना घर जला ले, तो उसे क्या कहेंगे? मूर्ख ही कहेंगे।

महानुभाव! क्या पढ़े-लिखे व्यक्ति भी जानते हैं कि हमें क्या पढ़ना है और क्या नहीं पढ़ना है? क्या कोपशास्त्र, कामशास्त्र पढ़ना है, क्या निंदा शास्त्र पढ़ना है अथवा चोरी का शास्त्र पढ़ना है? क्या पढ़ना है—इसका विवेक होना आवश्यक है।

आज मोबाइल हर व्यक्ति के हाथ में है, रखो, हमें कोई आपत्ति नहीं; किन्तु मोबाइल लेने के पहले मन में एक

संकल्प अवश्य कर लेना—भगवान् मैं अपनी आत्मा की साक्षी में कहता हूँ कि **मैं इस मोबाइल का दुरुपयोग नहीं करूँगा।** इसमें अच्छी चीजें ही देखूँगा, प्रवचन सुनूँगा, अच्छे चरित्र देखूँगा और भजन सुनूँगा अथवा सद्विद्यार्जन संबंधी उपयोग करूँगा। साधन हाथ में हो, पर उसका स्वामी हमारा विवेक रहे; **ऐसा न हो कि मोबाइल हमारे हाथ में हो और हमारा मन मोबाइल के हाथ में।**

महानुभाव! कोई वस्तु अपने आप में न अभिशाप है, न वरदान। उसका सद् उपयोग उसे वरदान और अभिशाप बना देता है।

आचार्य भगवन् इन्द्रनन्दि जी मुनिराज ने नीतिसार में कहा है—

येन येन शास्त्रेण न्यायेन वा विद्यया मुनेः।
सम्यक्त्वसंयमादीनां हानिस्तत्सेवनं त्यजेत्।।

हे मुने! जिन-जिन शास्त्रों के द्वारा या जिस विद्या के द्वारा आपके व दूसरों के सम्यक्त्व की हानि हो, वह पुस्तक पढ़ना, वह शास्त्र पढ़ना उचित नहीं है। कहीं उलटी वा कुतर्क वाली पुस्तकें पढ़कर, कुतर्क करके आप भी संदेह में पड़ गए तो संशय नामक मिथ्यात्व में पड़ जाओगे। आपको अपने ऊपर ही शंका होने लगेगी; वीतरागी सर्वज्ञ देव के स्वरूप में, जिनवचन में और निर्ग्रन्थ गुरुओं में भी शंका होने लगेगी। अतः ऐसा शास्त्र मत पढ़ो और ऐसा दुःशास्त्र भी न पढ़ो, जिससे न तो तुम संयम धारण कर

सको, उलटे संयमधारियों पर ही दोष लगाने लगो, शिथिलता का पोषण करने लगो।

एक मुनिराज बहुत सीधे-सादे थे। उन्हें किन्हीं पंडित जी ने व्याख्यान में कह दिया कि पंचमकाल में इतने करोड़ मुनि नरक जाएँगे। यह तो नहीं बताया कि कितने करोड़ स्वर्ग जाएँगे, यह भी नहीं बताया कि इस अवस्था में कितने सिद्धक्षेत्र में जाकर मोक्ष पाएँगे और यह भी नहीं बताया कि कितने लौकांतिक देव भी बन सकते हैं। ये सब तो नहीं बताया। वे भोले-भाले मुनिराज थे। उन्होंने अपनी पीछी–कमंडल छोड़ा, वस्त्र पहने और घर चले गए।

उनकी पत्नी बहुत स्वाध्यायशील थी। उसने पूछा–क्यों, क्या हुआ? अरे छोड़ो! जल्दी से मुझे भोजन दो, मुझे मुनि नहीं बनना। पंडित जी कह रहे थे कि मुनि बनकर नरक जाते हैं; मैं नरक नहीं जाऊँगा।

महिला ने बहुत समझाया, पर वे नहीं माने। पुनः एक विद्वान को बुलाया। उन्होंने समझाया–"भैया! तुम नरक नहीं जाओगे। जो मुनि-पथ से भ्रष्ट हो जाएँगे, मुनि-वेष धारण करके भी असंयम की प्रवृत्ति करेंगे, वे जाएँगे, तुम क्यों घबराते हो? कोई जहर खाकर नरक जाता है तो जाने दो, तुम अपनी चर्या अच्छे से पालो। यदि अभव्य भी द्रव्य रूप से संयम का पालन कर ले, तो वह भी नरक में नहीं जाएगा, वह भी स्वर्ग में जाएगा, नौवें ग्रैवेयक तक पहुँच सकता है।

महानुभाव! आचार्य महोदय कह रहे हैं–हे साधक! उस शास्त्र को पढ़ना, जिससे सम्यक्त्व व संयम की संवृद्धि हो, सम्यक्त्व में दृढ़ता आए, चारित्र में निर्मलता बढ़े और धर्मध्यान की संवृद्धि हो। ऐसे शास्त्रों को अपने गुरु महाराज से पूछकर, उनकी आज्ञानुसार, उनके हाथों से ग्रहण कर पढ़ो। विनयपूर्वक उस ज्ञान का अर्जन करो जिससे आपको विद्या की प्राप्ति भी होगी और उसके समीचीन फल की भी प्राप्ति होगी। परिणाम शांत होंगे, कषाएँ उपशमित होंगी, रत्नत्रय की भावना बलवती होगी, विशुद्धि क्षिप्र गति से बढ़ती जाएगी। इस प्रकार आचार्य महोदय ने बताया कि जिस विद्या से हमारे भव का नाश न होकर भव का संवर्धन हो, उसे छोड़ दो।

जिस विद्या के माध्यम से आप लोक में सुभिक्ष कर सकते हों, सुख कर सकते हों, रोगी को निरोगी कर सकते हों; तो अच्छा है आप सभी सद् शिक्षा, सद्ज्ञान को प्राप्त करके स्व-पर कल्याण में सहयोगी बनें, श्रेय मार्ग पर बढ़ते रहें, इन्हीं सद्भावनाओं के साथ-

॥ श्री शान्तिनाथ भगवान की जय ॥

स्वयं के स्वामी बनें

महानुभाव! जीवन बहुत खूबसूरत है, फिर भी इसे जरा सँभालने की जरूरत है। यदि संभाल लिया तो यह भगवान की मूरत है, यदि नहीं संभाला तो ये शैतान की सूरत है। प्रश्न यही है कि इस जीवन को संभालें कैसे? हम चाहते भी हैं और प्रयास भी करते हैं कि जीवन को संवारें, सुधारें, अच्छा बनाएँ किन्तु अतीत के संस्कार बार-बार उमड़ कर आते हैं।

एकांत में बैठते हैं तो चिंतन बहुत अच्छा बनता है, पर किसी निमित्त को पाते ही क्षणभर के लिए क्रोध आदि कषायों का उदय हो जाता है। कभी-कभी अशुभ निमित्तों को पाकर के स्पर्शनादि इंद्रिय के विषयों में मन रंजायमान होने लगता है। कभी हमारा मन अत्यधिक संक्लेशित हो जाता है तो कभी मन अत्यधिक प्रसन्न रहता है। कभी यही मन इंद्रिय-विषयों में रमण करता हुआ समय का भी ध्यान नहीं रखता और कभी-कभी इंद्रियाँ बड़ी शान्ति से बैठ जाती हैं, तो कभी-कभी इतनी खटपट मचाती हैं कि मनुष्य स्वयं भी उन्हें संभाल नहीं पाता।

इसीलिए आचार्यों ने इंद्रियों को कभी अश्व की उपमा दी है, तो कभी अज (बकरे) की उपमा दी है; कहीं चंचल मछली, कहीं बंदर, तो कहीं भ्रमर की उपमा दी है; कभी इंद्रियों को हाथी आदि अनेक उपमाएँ दी हैं। ये

सभी उपमाएँ इसलिए दी हैं कि जिस प्रकार इन पशु-पक्षी व जानवरों को बिना किसी साधन व उपकरण के नियंत्रण करना बड़ा कठिन होता है, उसी प्रकार इंद्रियों को भी नियंत्रण करना कठिन होता है।

महानुभाव! यदि कृषक के हाथ में दण्ड है तो वह अपने बैलों को व्यवस्थित चलाने में समर्थ होता हैं, अन्यथा बैल इधर-उधर भागते हैं। यदि कोई कुम्भकार गधे पर मिट्टी लादकर लाता है, उसके हाथ में छड़ी या डंडा हो तो उसके डर से गधा व्यवस्थित चलता है, अन्यथा अव्यवस्थित हो जाता है। यदि महावत हाथी पर सवार होकर अपने हाथों में अंकुश न रखे तो वह हाथी निरंकुश होकर उच्छृंखल हो जाता है। वह अपने स्वामी महावत को वा उस पर सवार व्यक्ति को नीचे गिरा देता है और अन्य व्यक्तियों का भी संहार करने लगता है। बकरा भी ऐसी ही प्रवृत्ति करता है कि जितना भी उसे खिलाओ-पिलाओ, फिर भी हरी घास देखकर के उसका मुँह मारने का मन आ ही जाता है।

एक बार राजा ने अपने जमींदारों को बुलाया और सूचना देते हुए कहा-"आप सभी जमींदारों की परीक्षा करनी है, क्योंकि हमारे वयोवृद्ध मंत्री अब सेवानिवृत्त होना चाहते हैं और मुझे नूतन मंत्री की आवश्यकता है। अतः अपने ही जमींदारों में से उनकी बुद्धि की परीक्षा करके, कार्यकुशलता, उदात्त विचारों और समर्पण की परीक्षा करके हम नूतन मंत्री के बारे में विचार करेंगे। अतः सभी जमींदारों

को निर्देश दिया गया कि वे नियत तिथि, नियत समय और नियत स्थान पर उपस्थित हों।

राजा की आज्ञा पाकर सभी जमींदार नियत स्थान पर पहुँच गए। राजा ने सबको संबोधित करते हुए कहा–"हम मानते हैं कि संभवतः आप सभी बुद्धि के धनी और कलाकौशल आदि में प्रवीण हैं। हम यह भी मानते हैं कि आपके हृदय में दया और करुणा का सागर लहलहाता है तथा आप अप्रिय प्रसंगों को उसी तरह भूल जाते हैं, जिस प्रकार हवा दुर्गन्धित वायु को अपने साथ बहाकर ले जाती है। फिर भी आपकी क्रमशः परीक्षा करने का हमारा भाव है। जो इन सभी परीक्षाओं में अपने बुद्धि–कौशल और अपने आत्मीय गुणों के कारण सफल होगा, संभवतः उसे इस राज्य का महामंत्री, महाअमात्य घोषित किया जाएगा।"

प्रथम परीक्षा में राजाज्ञा के अनुसार कुछ बकरे लाए गए। सभी जमींदारों से कहा गया–"आप इन सभी बकरों को अपने साथ ले जाइए। इन्हें खूब अच्छी घास खिलाइए, व्यंजन खिलाइए, दूध पिलाइए; जो भी व्यवस्था हो, अच्छे से अच्छा खिलाइए–पिलाइए, किन्तु ध्यान रहे इन्हें इतना खिलाना–पिलाना है कि ये इसके बाद और कुछ भी न खाएँ। जब इन्हें मेरे दरबार में लाया जाएगा, तब इनके मुँह की परीक्षा ली जाएगी।"

सभी जमींदार अपने–अपने बकरों को ले गए। उन्होंने उन्हें खूब अच्छी तरह खिलाया–पिलाया, राजा ने राज्यकोष

से धन भी दिलाया, ताकि उन बकरों को खिलाने-पिलाने की व्यवस्था में कोई कमी न रहे।

एक माह बाद सभी जमींदार अपने-अपने बकरों को लेकर दरबार में उपस्थित हुए। राजा ने स्वयं उनकी परीक्षा ली। बकरों के सामने हरी-हरी घास रखी गई। बकरे घास देखते ही तुरंत मुँह मारने लगे।

राजा ने देखा—यहाँ तो सभी अनुत्तीर्ण हैं। किन्तु एक युवक पीछे बैठा था। उसने कहा—महाराज! मेरा भी बकरा है। राजा ने पूछा—"क्या तुमने अपने बकरे को कुछ खिलाया-पिलाया नहीं? यह इतना दुबला-पतला क्यों है? वह बोला—"महाराज! ये दुबला-पतला क्यों है, यह तो मुझे नहीं पता; किन्तु खिलाने-पिलाने में कोई कमी नहीं की। महाराज! आप इसकी परीक्षा लेकर देख लें।

राजा ने उस बकरे की भी परीक्षा ली, उसके सामने हरी-हरी घास रखी, इतना ही नहीं, दूध और गुड़ भी रखा; किन्तु बकरे ने तो जैसे समाधि ही ले ली हो; आँख बंद करके योगी की तरह निश्चल खड़ा हो गया। बकरे के सामने थोड़ी दूरी पर उसका मालिक जमींदार चुपचाप एक लाठी लेकर खड़ा था। बकरे ने जैसे ही थोड़ी सी आँख खोली और देखा सामने मालिक हाथ में लाठी लिए खड़ा है, मैंने मुँह खोला तो सीधे डंडे से मार पड़ेगी। उसने तुरंत आँखें बन्द कर लीं।

राजा ने बहुत प्रयास किया, किन्तु बकरे ने आँख तक नहीं खोली। राजा बड़ा संतुष्ट हुआ। बोला—"भाई! तेरा

बकरा भूखा-प्यासा लग रहा है, दुबला-पतला भी है, फिर भी कुछ नहीं खा रहा। बाकी सब बकरे, जिनके वजन एक महीने में दुगुने हो गए, तब भी वे घास देखते ही खाने लगे। आखिर राज क्या है? तुमने इसे ऐसा क्या खिला दिया कि अब यह कुछ खा ही नहीं रहा है? या कोई ऐसी दवा पिलाकर लाए हो, जो इसे भोजन देखकर उल्टी आ रही हो? आखिर बात क्या है?

वह जमींदार बोला—राजन्! क्षमा करें। आप जानना चाहते हैं तो बताता हूँ। मैंने अपने बकरे को खूब खिलाया-पिलाया, किन्तु अपने घर में जो कुछ दे सकता था, जितना ये खा सकता था, उतना ही खिलाया। पुनः इसे मैं खेतों में ले जाता। वहाँ खूब हरी-हरी घास दिखाता; कहीं दूब रखवाता; कहीं गुड़ रखवाता; किन्तु जैसे ही ये मुँह मारने को होता, मैं अपनी लाठी का प्रहार इसके मुँह पर कर देता। ऐसा मैंने पूरे उनतीस (29) दिन किया। ये समझ गया मुझे खाने के लिए घर पर ही मिलेगा, उसके अतिरिक्त यदि कहीं मुँह मारूँगा तो केवल डंडे खाने को मिलेंगे और कुछ नहीं मिलेगा; इसीलिए यह यहाँ मुँह खोलता ही नहीं है। इसे पता है कि यहाँ इसने मुँह खोला, तो मैं सामने लाठी लेकर खड़ा हूँ। इसीलिए यह चुपचाप बैठा रहा।

महानुभाव! इसी प्रकार हमें भी अपनी इंद्रियरूपी घोड़ों को नियंत्रित करना है। इंद्रियों से कहो—जो मैं दूँगा, वही तुम्हें मिलेगा और जितना दूँगा, उतना ही मिलेगा; उससे अधिक नहीं मिलेगा। मैं अपनी साधना को दृढ़ करने के

लिए ही दूँगा; ऐसा कुछ नहीं दूँगा, जिससे मेरी साधना में बाधा आए।'' कषायें शान्त रहें उतना ही देना है, प्रमाद आए, इंद्रियाँ उच्छृंखल हों–ऐसा नहीं देना।

पुनः उस युवक की अन्य परीक्षाएँ भी हुईं। वह अपने बुद्धि-विवेक से उनमें उत्तीर्ण हुआ। राजा ने उसे पुरस्कृत किया, धन भी दिया। वह युवा रात्रि में वेष बदलकर अपने गाँव में गया और जरूरतमंदों के लिए उस धन का सदुपयोग किया। एक पैसा भी अपने लिए नहीं रखा; सब परोपकार में लगा दिया।

राजा के गुप्तचरों ने देखा और सारा समाचार राजा को दे दिया। राजा ने उस युवा को पुनः बुलाया और पूछा–तुमने उस धन का क्या किया? वह बोला–महाराज! 'वह धन तो मैंने सारा व्यय कर दिया।' राजा ने पूछा–''क्या सारा धन अपने ऊपर ही खर्च कर लिया।'' हाँ महाराज! ऐसा ही समझो, जो मुझे उचित लगा मैंने वहीं व्यय कर दिया। राजा ने कहा–सत्य बताओ, तुमने उस धन का क्या किया?

वह बोला–महाराज! मुझे उस धन की इतनी आवश्यकता नहीं थी। मुझसे भी ज्यादा जरूरतमंद इस नगर में थे, मेरे गाँव में थे, मैंने उस धन से उन गरीबों की सहायता कर दी। आपने जो धन पुरस्कार स्वरूप दिया था, मैंने उस धन को महायज्ञ में लगा दिया। आपसे प्रदत्त पुरस्कार का यदि मैं स्वयं उपभोग करता तो उससे आपको भी पुण्य नहीं मिलता, इसलिए जिससे आपको भी पुण्य मिले, मैंने ऐसा कार्य किया।

राजा ने कहा—“बहुत अच्छा काम किया।” पुनः राजा ने उसे सौ सोने के सिक्के दिए और अन्य जमींदार, जो स्वयं को बुद्धिमान मानते थे, उन्हें भी सौ सिक्के दिए और कहा—“एक सप्ताह के अंदर ये सभी सिक्के तुम्हें अपने स्वयं के लिए खर्च करने हैं। किन्तु एक बात ध्यान रखना–मेरा चेहरा सौ बार देख लेना, फिर एक सिक्का खर्च करना। यदि सौ बार मेरा चेहरा न देख पाओ, तो एक भी सिक्का खर्च नहीं करना।

राजा सात दिन के लिए रनवास में चला गया। सात दिन तक रनवास के बाहर नहीं निकला। बाहर पहरा बिठा दिया कि कोई भी व्यक्ति अंदर न आ सके। जिसे दर्शन करना हो वह दरबार में दर्शन करे; किन्तु राजा ने तो सात दिनों के लिए दरबार में जाना ही बंद कर दिया। सात दिन बाद सभी जमींदार आए। उन्होंने ज्यों-की-त्यों सौ सोने के सिक्कों की थैली राजा को वापस कर दी।

राजा ने कहा—“आप लोगों ने खर्च नहीं किए? वे बोले—“महाराज! आपके दर्शन ही नहीं मिले तो खर्च कैसे करते? हम कई बार आए, किन्तु आपके दर्शन उपलब्ध नहीं हो सके; अतः हमें क्षमा करें, हम सिक्के खर्च नहीं कर पाए।

वह युवा भी आया। बड़े अच्छे वस्त्र पहनकर ठाठ-बाट से आया? राजा ने उससे भी पूछा—भाई! तुमने सिक्के कैसे खर्च किए? मेरे दर्शन किए बिना यदि खर्च किए तो तुमने

मेरी आज्ञा का उल्लंघन किया है। इस अपराध में मैं तुम्हें मृत्युदण्ड भी दे सकता हूँ।

वह बोला–'महाराज! दर्शन तो मैंने किए हैं।' राजा ने आश्चर्य से पूछा–कैसे किए? क्या पक्षी बनकर मेरे कक्ष में आए थे या जिंद बनकर आए थे? अथवा कोई कीट-पतंगा बनकर आए? कब आए और कैसे आए? वह बोला–महाराज! मैंने आपके दर्शन किए बिना तो एक भी सिक्का खर्च नहीं किया। क्षमा करें, आपने अपने दर्शन की बात कही थी। दर्शन तो भगवान् के भी करते हैं। जो भगवान मोक्ष चले गए, उनके दर्शन उनके जिनबिम्बों के माध्यम से करते हैं। आपके द्वारा प्रदत्त सौ सिक्के मेरे पास थे और प्रत्येक सिक्के पर आपका चेहरा बना हुआ था; मैंने पहले सौ सिक्कों पर आपका चेहरा देख लिया और फिर उन्हें खर्च कर दिया।

राजा ने कहा–सच में, धन्य है यह और इसकी बुद्धिमानी; नि:संदेह इस युवा में उदारता भी है, कलाकौशल भी है, उत्साह भी है और यह लोभी-लालची भी नहीं है। हर परीक्षा में अपनी बुद्धि के बल से उत्तीर्ण हुआ है। अत: राजा ने उसे महामंत्री पद पर नियुक्त करने का विचार किया, किन्तु उससे पहले एक परीक्षा और ली। उसे एक ऐसा अश्व दिया जिसकी लगाम नहीं थी और उस पर सवारी करने को कहा। युवा गया, घोड़े को निहारा, वात्सल्य से उसके ऊपर हाथ फेरा, चूमा, पुन: थपथपाया और उससे कहा–"मित्र धन्य हो तुम। क्या तुम्हारा सामर्थ्य है! तुम

राजा के यहाँ रत्न बनने के लायक हो, आज से तुम मेरे मित्र और मैं तुम्हारा मित्र। मैं तुम्हारा ध्यान रखूँगा, तुम मेरा ध्यान रखना। देखो! मैं तुम पर सवारी नहीं लादना चाहता, किन्तु राजाज्ञा का पालन तुम्हें भी करना है और मुझे भी करना है, राजाज्ञा भंग होगी तो हम दोनों ही दण्ड के भागी होंगे। अतः हम दोनों चलते हैं, तुम मुझ पर विश्वास करो, मैं तुम्हें सभी घोड़ों में रत्न मानकर रखूँगा। यदि यह प्रस्ताव तुम्हें स्वीकार है तो तुम मुझे विजेता बनाकर महामंत्री पद पर शोभित करने में मेरा साथ दो।''

घोड़ा इतना सब जैसे सुन समझकर ठहरा, अपना सिर नीचे किया और युवा को बिठाया। बिना लगाम के वह घोड़े पर सवार हो गया और राजा के पास पहुँच गया। राजा ने कहा–''वाह! तुमने बिना लगाम के घोड़े पर सवारी कैसे कर ली? वह बोला–महाराज! घोड़ा मेरा शत्रु नहीं, मैंने पहले उसे अपना मित्र बनाया। मित्र वही है, जो मित्र के काम आए। मैंने उससे अपने मन की बात कही, उसके मन को समझा और उसने मेरे मन को समझा; बस, वह सवारी के लिए राजी हो गया।''

महानुभाव! ये हमारी इंद्रियाँ भी घोडे के समान हैं। इन्हें केवल चाबुक मारकर वश में नहीं किया जा सकता। चाबुक मारो, तब भी इंद्रियाँ वहीं जाती हैं। आँखें बंद करने से मन का पाप नहीं रुकता, कान बंद करने पर भी मन की गति नहीं रोकी जा सकती है। मन यदि नियंत्रित हो तो आँख-कान खुले भी हों, तब भी कोई फर्क नहीं पड़ता।

इस मन रूपी घोड़े को इस प्रकार वश में करना है कि इंद्रियाँ मन को न चलाएँ। मनरूपी घोड़े को वश में करने के लिए इसे अपना मित्र बनाओ, इसको मोहित कर लो।

महानुभाव! आचार्य भगवन् रामसेन मुनि (कहीं नागसेन नाम आता है) ने तत्त्वानुशासन ग्रंथ में मन व इंद्रियों को जीतने के लिए एक सूत्र दिया–

ज्ञानवैराग्य-रज्जुभ्यां, नित्यमुत्पथवर्तिनः।
जितचित्तेन शक्यन्ते, धर्तुमिन्द्रियवाजिनः॥77॥

''सदा उन्मार्ग की ओर दौड़ने वाले इन्द्रियरूपी घोड़ों को वही मनुष्य वश में कर सकता है, जिसने चित्त को जीत लिया हो और जिसके हाथ में ज्ञान तथा वैराग्य की लगाम हो।'' ज्ञान और वैराग्यरूपी रस्सी के द्वारा इंद्रियरूपी घोड़ों को जीता जा सकता है, जो बड़े चंचल हैं, उपद्रवी हैं। अर्थात् मन व इंद्रियों को अपना मित्र बनाओ, पुनः ज्ञान व वैराग्य रूपी रस्सी से उन्हें बाँधो।

घोड़े को सदैव के लिए मित्र बनाना चाहते हो तो रस्सीविहीन मत छोड़ना, उसमें लगाम लगाना। उससे कहना–''मित्र मैं लगाम लगा रहा हूँ, कष्ट हो तो कहना।'' उसे समझाते हुए ले जाना। यदि घोड़े का मन बदले और वह लगाम मानने को तैयार न हो, तो उतरकर नीचे आ जाओ, उसको थपकी लगाओ, सहला दो।

ऐसे ही अपने मनों पर, इंद्रियों पर हमेशा चाबुक नहीं मारो; पहले उन्हें समझाओ। ज्ञान से वैराग्य को जाग्रत करो।

जब मन में वैराग्य आ गया, तब संसार के किसी भी पदार्थ को देखने की, सुनने की, भक्षण की, स्पर्श की, सूँघने की इच्छा नहीं रहेगी, सब इच्छाएँ तिरोहित हो जाएँगी; जो मिल गया–सो मिल गया, न राग न द्वेष।

जो ज्यादा त्याग कर लेते हैं, प्रायः ऐसा प्रतीत होता है कि उनके जीवन में राग-द्वेष अधिक होता है। मेरी बात को अन्यथा नहीं लेना, क्योंकि त्याग के उपरांत यदि समत्व परिणाम नहीं रहता तो संक्लेशता अधिक बनती है। जैन शास्त्रों में त्याग उतना ही बताया गया है, जितनी आपकी शक्ति हो और जिससे मन में संक्लेश उत्पन्न न हो। मोक्षमार्ग में बाधक हैं—हमारे कलुषित परिणाम। ज्ञान-वैराग्य ज्यों-ज्यों बढ़ता चला जाता है, मोक्ष मार्ग में त्यों-त्यों गति होती जाती है। ज्ञान-वैराग्य के बढ़ने से जीवन में संयम आता है, चारित्र निर्मल होता है, समताभाव आता है और कषायें शमित होती हैं।

महानुभाव! ये ज्ञान और वैराग्य ऐसे दो पंख हैं, जिन्हें प्राप्त करके यह आत्मारूपी पक्षी चारित्र की गति करता हुआ; पहले व्यवहार—चारित्र और पुनः निश्चय-चारित्र के आकाश में उड़ने लगता है। आप सभी अपने जीवन में निरंतर ज्ञान की वृद्धि करें—दूसरों को उपदेश देने अथवा स्वयं की विद्वत्ता दिखाने के लिए नहीं, वरन् अपने परिणामों को संभालने के लिए।

मात्र शास्त्रों को पढ़ना स्वाध्याय नहीं है। पढ़कर दूसरों को उपदेश देना, ताड़ना, प्रताड़ना अथवा तिरस्कार-अपमान

करना भी स्वाध्याय नहीं है। स्वाध्याय क्या है?–'**स्वस्य हिताय या अध्ययनं स्वाध्यायः**' स्वयं के हित के लिए शास्त्रों का पढ़ना, सुनना, चिंतन करना, याद रखना एवं दूसरों को उपदेश देना। वह उपदेश आत्मा से निःसृत हो, मात्र जीभ से नहीं। जीवन से निःसृत उपदेश ही स्वाध्याय है। अपने परिणामों की विशुद्धि ही इस स्वाध्याय का वास्तविक फल है।

महानुभाव! अपने शुभ परिणामों से ही हित होता है और अशुभ परिणामों से अहित होता है। आकुलता से रहित, निराकुल चित्त ही धर्मध्यान की वृद्धि में समर्थ होता है। अपने परिणामों को संभालने के लिए सदैव प्रयासरत रहो, सतत पुरुषार्थशील रहो। यही हमारी तपस्या है, यही साधना है, यही हमारा संयम है। व्रत, शील, उपवास, स्वाध्याय आदि का प्रमुख प्रयोजन भी यही है कि हम हमारे परिणामों को सँभालकर रखें।

हम मालिक बनें, इंद्रियों के दास न बनें। इंद्रियाँ हम पर अपना हुकुम न चलाएँ, वरन् हम ही अपनी चित्त की स्थिरता व ज्ञान-वैराग्य के द्वारा संयमित जीवन जीएँ; इन्हीं भावनाओं के साथ....।

॥ श्री शान्तिनाथ भगवान की जय ॥

ठहराव-आत्मा की ओर लौटना

महानुभाव! संसार में जितने भी जीव हैं, प्रायः वे सभी दुखी हैं; चाहे राग से चाहे द्वेष से, चाहे कषायों से, चाहे पंचेन्द्रिय विषय-सेवन की आकांक्षाओं से। सभी प्राणियों का स्वभाव, नियति और प्रकृति दुःखी रहना नहीं अपितु सुख को प्राप्त करना है। और ऐसा सुख प्राप्त करना है, जिसका कभी अंत न हो, जो शाश्वत हो, अनंत हो। आप भी चाहते हैं कि हमें सुख की प्राप्ति हो।

सुख की प्राप्ति और दुःख का अंत एक ही कारण से हो सकता है। फिर भी दुःखों से बचने के लिए दुःख के कारणों से बचना आवश्यक है; क्योंकि जब दुःखों के कारणों से बचेंगे, तभी सुख के कारणों को प्राप्त कर सकेंगे। जो व्यक्ति अशुभ के मार्ग से बचे, तभी तो सुख के मार्ग पर चल पाएगा। समस्या यही है कि सुख के मार्ग पर चलने के लिए दुःख के मार्ग को छोड़ना जरूरी है, तभी सुख की संप्राप्ति संभव है।

महानुभाव! दुःख के मार्ग क्या हैं? हमारी दृष्टि में दुःखों के दो प्रमुख कारण हैं—इन दो कारणों से बच गए तो अपनी आत्मा को दुःखों से बचा लोगे।

पहला कारण है 'पराधीन वृत्ति'। व्यक्ति दूसरों के अधीन है, इसलिए दुखी है। वह सोचता है—मैं मालिक के अधीन हूँ, मालिक मुझे हर समय आज्ञा देता है; मैं स्वतन्त्र

जीवन नहीं जी पाता, बड़ा परेशान हूँ। मेरे ऊपर हर समय कोई न कोई अंकुश लगा हुआ है, जैसे हाथी पर महावत अंकुश लगाता है, ऐसे ही मैं दु:खी हूँ। जब देखो, तब मेरे बड़े मुझे टोकते रहते हैं, आज्ञा देते रहते हैं। चाहे उसे पालन करने में मेरी अनुकूलता हो या प्रतिकूलता, मुझे कार्य करना पड़ता है। जिस तरह पशुओं को काम करना पड़ता है, वे चाहे अस्वस्थ हों, फिर भी मालिक की आज्ञा के अनुसार उन्हें कार्य करना ही पड़ता है। यदि न करें तो चाबुक पड़ते हैं। इसी प्रकार पराधीन मनुष्य पर भले ही चाबुक की मार न पड़े, वचनों के बाण ऐसे छोड़ जाते हैं, जिससे सीधे हृदय पर घात होता है। इसीलिए पराधीनता दु:ख है।

प्राचीन काल से ही सुनते आ रहे हैं–'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।'' पराधीन व्यक्ति को स्वप्न में भी सुख नसीब नहीं होता। पराधीनता एक अभिशाप है; पराधीनता ही दु:खों की जननी है। इसीलिए संसार का प्रत्येक जीव स्वाधीन होना चाहता है, स्वतन्त्र होना चाहता है; स्व तन्त्र में रहना नहीं चाहता। वह अपने द्वारा बनाए गए सिद्धान्तों का अनुसरण नहीं कर पाता।

आज व्यक्ति स्वच्छन्द बनना चाहता है, मनमानी प्रवृत्ति करना चाहता है। उससे भले ही सामने वाले व्यक्ति को कष्ट हो, पीड़ा हो, पर उसे कोई फर्क नहीं पड़ता। स्वतन्त्रता का आशय स्वच्छन्दता नहीं, अपितु अनुशासन, नियमबद्धता और मर्यादा है। जो स्व-तन्त्र में चलता है वही वास्तव में स्वतन्त्र है। आज भारत लोक और जनता द्वारा बनाया गए

संविधान के अनुसार संचालित हो रहा है; अतः भारत में आज लोकतान्त्रिक/प्रजातान्त्रिक शासन व्यवस्था है।

दूसरा दुःख का कारण है—**व्यक्ति दूसरे को अपने अनुसार चलाना चाहता है।** चाहे वह उसका अपना बेटा हो या बेटी, भाई हो या मित्र, पत्नी हो या उसके माता-पिता, हर व्यक्ति यही चाहता है कि जैसा मैं कहूँ वैसा ही हो, जैसा मैं चाहूँ वैसा ही हो। जब कहूँ तो हवा चल जाए; जब कहूँ तो बारिश हो जाए; जब कहूँ तो हवा रुक जाए, बारिश रुक जाए; जब कहूँ धूप आ जाए और जब कहूँ तब चली जाए। अर्थात् हर कार्य मेरे अनुसार चले। यह भी पराधीनता से बढ़कर दुःख का कारण है—दुनिया को अपने अनुसार चलाने का दुःसाहस।

कोई सास घर में यदि इस बात से दुःखी है कि अब घर में मेरी नहीं चलती, बहू की चलती है। तो हम आज की सासों को समझाना चाहते हैं—चाहे वे अपने दामादों की सास हों या अपनी बहू की सास, आज बहुमत का जमाना है। अल्पमत से सरकार नहीं चलती, सरकारें गिर जाती हैं। यदि बहू का मत चल रहा है तो अब बहू की बात मान लो।

महानुभाव! भगवान् ऋषभदेव स्वामी ने दीक्षा से पूर्व भरत चक्रवर्ती को कुछ बातें समझाई थीं। उन्होंने कहा—"भरत! तुम बहुत भद्र हो, सरल हृदयी हो, लोग तुम्हें सहजता में समझ नहीं पाएँगे; लोग तुम्हारी सरलता और सहजता का नाजायज लाभ उठाने की कोशिश करेंगे। हम जानते हैं, आप भविष्य में राजाओं के राजा चक्रवर्ती बनोगे। अतः

कुछ बातें हमारी ध्यान रखना। हम आपको अनुरागपूर्वक बता रहे हैं; पालन करो तो ठीक, अन्यथा हमारा आदेश नहीं है और हमें कोई विकल्प भी नहीं होगा।

पहली बात—**अपना काम अपने आप करो।**

दूसरी बात—**स्वयं को बदलने की चेष्टा करो, दूसरों को बदलने का दुस्साहस मत करो।**

तीसरी बात—**स्वतंत्र रहो।**

चौथी बात—**स्वच्छन्द मत बनो।**

पाँचवी बात—**सदैव हर परिस्थिति में मुस्कुराते रहो।**

चाहे कितनी भी प्रतिकूल परिस्थिति क्यों न हो, आँखों में लालिमा नहीं, क्रोध में होंठ फड़फड़ाएँ नहीं, चेहरा तमतमाए नहीं; हाथ-पैर काँपें नहीं; बल्कि शान्ति और आनंद के साथ मुस्कुराते रहो।

आप किसी भी बात पर विकल्प क्यों करते हो? हमारा क्या किसी ने छीन लिया? जो हमारे अनुसार नहीं चल रहा, उसके लिए विकल्प क्यों करना? हम स्वयं को अपने अनुसार चलाएँ, अपने मन व इन्द्रियों पर राज्य कर सकें इतना ही पर्याप्त है; इससे अधिक और क्या चाहिए? किन्तु जब तक दूसरे व्यक्ति को बदलने का भाव रहेगा, तब तक चित्त में शांति नहीं मिलेगी।

ध्यान रखना, विचार मन में आ गया तो पूरी रात निकल जाएगी। कहते हैं—आज तो कोरी आँखों से सवेरा हो गया; यानी रात में पलक तक नहीं झपकी, एक क्षण भी नींद

नहीं आई। क्यों? क्योंकि दूसरों की चिंता में लगे रहे। **'परचिंता धमाधमा'** दूसरों की चिंता करना अधम से भी अधम महापाप है। हम दूसरों की चिंता क्यों करें, जबकि हम न दूसरों के पुण्य को बदल सकते न पाप को; न उनके दोषों को कम कर सकते और न उनके सुख में वृद्धि कर सकते हैं।

किन्तु हाँ, हम दूसरे के प्रति अच्छी भावना अवश्य भा सकते हैं और यदि ज्यादा करुणा उमड़ रही है तो शब्दों से उपदेश दे सकते हैं, और यदि शब्दों से कहना संभव न हो, तो मौन रहकर के सद्भावनाओं से उपदेश दे सकते हैं। जो काम हमारी ऊर्जा शक्ति करती है, मनोभाव करता है, वह काम शब्द नहीं कर सकते; और जो कार्य शब्द करते हैं, वह कार्य हाथ-पाँव नहीं कर सकते। काय से कार्य करना जघन्य कार्य है और वचनों से करना मध्यम कार्य है। यह आवश्यक नहीं कि सामने वाला आपकी बातें मान ही ले; वह उसका विपरीत कार्य भी कर सकता है। वह कह सकता है—आप कौन होते हैं मुझे रोकने-टोकने या कहने वाले? तब सोचो-भैया! क्षमा करो, मुझसे गलती हो गई जो मैंने आपको सही रास्ता बताने का प्रयास किया।

फिर भी यदि मन न माने तो दूसरों के लिए मन से ही सद्भावनाएँ प्रेषित करो। निराकुल रहो और जो चल रहा है, बस उसे देखो। **'ये सदा नहीं रहेगा'** यह सूत्र वाक्य याद कर लो और चिंतन करो। इसीलिए कहा है, जो चल रहा है, उसे चलने दो; न चिंता करो, न विकल्प करो,

बस प्रभु का चिंतन करो। आँखें बंद करके तीन लोक के चलचित्र को अपने मन में देखो, लोकानुप्रेक्षा का चिंतवन करो; इससे आपका धर्मध्यान बनेगा। दूसरे को बदलने का दुस्साहस मत करो।

महानुभाव! आप यदि वर्तमान को देखकर भूतकाल को याद करते हुए कहो–अरे! जमाना कैसा हो गया! पहले तो ऐसा होता था, हमने तो कभी ऐसा किया नहीं; हमारे जमाने में तो कितना शुद्ध माहौल था, मंदिरों में स्वाध्याय की परम्परा थी, घर-घर चौके लगते थे, सूखे बर्तन माँजे जाते थे। पहले बेटा पिता के सामने आँख उठाकर देखता नहीं था, बहू सदैव पर्दा करती थी, पैरों का मर्दन करती थी, चरण छूती थी। भैया! वह जमाना चला गया। जो पानी नदी में बह गया, अब वह लौटकर कहाँ से आएगा? उसे लौटाकर नहीं लाया जा सकता।

महानुभाव! हम तो स्नेहपूर्वक आपको यही समझाना चाहते हैं कि आप पुराने जमाने के लिए मत रोओ, अपनी संक्लेशता मत बनाओ। जो गया, सो गया; जिसकी श्वांस गई, सो गई। अब वह मुर्दा हो गया, इसलिए अब गड़े मुर्दे मत उखाड़ो। बीता समय लौटाकर नहीं लाया जा सकता। सयाने लोग कहते हैं–अतीत को साथ में बाँधकर वर्तमान में मत चलो। अतीतकाल को 'भूतकाल' कहते हैं; भूत व्यक्ति को इतना परेशान नहीं करता, जितना भूतकाल परेशान करता है। पति दिवंगत हो गए, आज नहीं हैं; पर आज भी याद आ गई तो आँखें भर गईं। कोई और बात याद आ गई

तो फिर आँखें भर आईं। उससे क्या होगा? उस भूतकाल को ज्यादा मत घसीटो, क्योंकि इससे अतीत नहीं घिसटता, अपितु घसीटने वाला घिसट जाता है। जैसे भोगों को भोगने से भोग नहीं भुगते वरन् भोगने वाला ही भुगत जाता है।

एक सूत्र अपनाओ–**'Leave it'–छोड़ो; 'Go ahead' आगे बढ़ो।** उसी खूँटे से बँधे रहे तो गाय की तरह वहीं चक्कर लगाते रहोगे; कोल्हू के बैल की तरह जिंदगी भर वहीं घूमते रहोगे, कभी आगे ही नहीं बढ़ पाओगे।

महानुभाव! आगे बढ़ो। अतीत की स्मृतियाँ छोड़ो; अतीत के कटु व मृदु दोनों प्रसंगों को भी छोड़ो। अतीत चाहे पुष्पों की सेज रहा हो या काँटों का बिस्तर, चाहे अग्नि का दरिया रहा हो या पुष्पों की वाटिका, चाहे राजमहल सी जिंदगी रही हो या नरक जैसी; जब वह अतीत हो चुका है, तो उसे बार-बार स्मरण करके वर्तमान को क्यों व्यथित कर रहे हो? क्यों उसे बार-बार याद कर रहे हो, आगे बढ़ो।

आपने नाम सुना होगा–अंतिम मुकुटबद्ध सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य। वे एक न्यायप्रिय राजा थे, जिन्होंने अपने गुरु चाणक्य के साथ अखण्ड भारत की स्थापना की। चाणक्य बहुत मेधावी और प्रज्ञा के धनी थे, जिन्होंने मगध की एक नहीं तीन-तीन पीढ़ियों तक राज्य संचालन के कार्य का निर्वाह किया। वे जैनत्व के प्रकाण्ड विद्वान थे। अहिंसा धर्म उनकी रग-रग में था और जैन सिद्धान्त उनकी जीवन शैली का अभिन्न अंग था। अन्तः उन्होंने जैन-विधि के अनुसार

समाधिपूर्वक अपने शरीर का परित्याग कर, समतापूर्वक उपसर्ग को सहन करके, उत्तम अवस्था को प्राप्त किया।

चन्द्रगुप्त मौर्य को एक दिन रात्रि के अंतिम प्रहर में सोलह स्वप्न आए। उन सोलह स्वप्नों को देखकर वे घबरा गए। जैसे पंचमकाल के प्रारंभ में, चौथेकाल के अंत में भगवान नेमिनाथ के समय में हुए पाण्डव को स्वप्न आए कि पंचमकाल ऐसा होगा; उसी प्रकार चतुर्थ काल के अंत में भी अनेक महापुरुषों को स्वप्न आए कि पंचमकाल ऐसा-ऐसा होगा।

आचार्य अजितसेनसूरि ने यहाँ तक कहा कि भविष्य में कोई घटना ऐसी नहीं होती, जिसका पूर्वाभास किसी न किसी रूप में पहले न हो। कोई दुखद घटना घटित होने वाली हो तो पहले दुःखद आभास होने लगता है और कोई सुखद अनुभूति है तो सुखद आभास होने लगता है। उन्हीं अनुभूतियों के माध्यम से रात्रि में हमारा अवचेतन मन काम करता है। इसी कारण कभी-कभी शुभ अथवा अशुभ घटनाओं के पूर्व उनके संकेत स्वरूप शुभाशुभ स्वप्न भी दिखाई दे सकते हैं।

सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य अपने सोलह स्वप्नों से क्षुभित होकर अंतिम श्रुतकेवली श्रीभद्रबाहु स्वामी के चरणों में पहुँचे। भद्रबाहु स्वामी सम्पूर्ण श्रुत को परोक्ष रूप में जानते थे। उन श्रीगुरु के चरणों में चंद्रगुप्त ने स्वप्न संबंधी वार्ता को रखा, तब गुरु ने बताया–हे चन्द्रगुप्त! आगे काल और खराब आने वाला है।

उनके सोलह स्वप्न थे–

1. अस्त होता सूर्य
2. कल्पवृक्ष की टूटी शाखा
3. सीमाओं का उल्लंघन करता हुआ समुद्र
4. बारह फणों वाला सर्प
5. देव विमान से वापस लौटते हुए
6. ऊँट पर बैठा राजकुमार
7. लड़ते हुए दो काले हाथी
8. दो बछड़े रथ खींचते हुए
9. नग्न स्त्री नाचती हुई
10. स्वर्णपात्र में खीर खाता हुआ श्वान
11. जुगनू को चमकते हुए
12. सूखे सरोवर में दक्षिण दिशा की तरफ थोड़ा जल
13. धूल में खिला कमल
14. छिद्र सहित चंद्रमा
15. हाथी पर बंदर
16. धूल में रत्नों का ढेर

अपने गुरु से उन स्वप्नों के दुखद फल को सुनकर चन्द्रगुप्त भयभीत हो गए और अपने अखण्ड भारत के राज्य को छोड़कर यथाजात दिगम्बर साधु बनकर तपस्या में लीन हो गए। जब वे व्याकुल थे तब भद्रबाहु स्वामी ने उपदेश दिया–पहले व्याकुलता का कारण छोड़ो, और ठहर

जाओ। व्याकुलता का कारण है—संसार, शरीर और भोग; इन्हें छोड़ो, पुनः ठहरो। किन्तु कहाँ? क्योंकि व्याकुलता में जीव ठहर नहीं पाता।

हवा चल रही हो, नदी-सागर में लहरें उठ रही हों, लहरों से कहो ठहर-ठहर, तो ठहरती नहीं हैं। उबलते पानी में चेहरा दिखाई नहीं देता; जब पानी शांत होकर ठहर जाता है, गंदगी नीचे बैठ जाती है, तब उसमें चेहरा स्पष्ट दिखाई देता है। भद्रबाहु स्वामी जी ने ऐसे ही चन्द्रगुप्त को समझाया—आप संसार, शरीर और भोगों से उदासीन होकर यहाँ तक आए, दिगम्बर साधु भी बन गए; किन्तु अब आपको भीतर ठहरना है। क्योंकि दौड़कर वे लक्ष्य प्राप्त नहीं होते जो ठहरकर प्राप्त किए जाते हैं। अतः ठहरना परम आवश्यक है। तुम्हें शांति चाहिए और शांति ठहरने से मिलेगी; दौड़ने से तो केवल क्रांति होती है।

विश्व-विजेता बनने का सपना देखने वाला यूनान का सम्राट सिकन्दर; जिसने दौड़-दौड़ करके कई देशों को जीत लिया, अल्पायु में कई देशों का विजेता बन गया। पर क्या उसे शांति मिली? अंत समय में कल्याण मुनि ने उसे समझाया कि जो सम्पत्ति तूने एकत्र की है, वह तेरे साथ नहीं जाएगी। जब उसे बात समझ आई, तब उसने अपने साथियों से कहा कि मेरी मृत्यु के उपरांत मेरे दोनों हाथ कफन से बाहर निकाल देना, एक हाथ को काला व दूसरे को सफेद कर देना; जिससे दुनिया जान सके कि अनेकों हकीम, वैद्य, डॉक्टर भी मुझे बचा नहीं सके, मेरी पीड़ा

को तिलभर भी कम नहीं कर सके। संसार का कोई भी व्यक्ति उसे कम नहीं कर सकता। मेरा दुःख मेरा ही है; कोई आकर उसे बाँट ले, किसी को क्या पड़ी है। मिल ही जाएगा कहीं न कहीं ठिकाना हमें, इतनी बड़ी दुनिया पड़ी है; अरे वसुनंदी! तेरा दुःख तेरा ही है, कोई आकर के बाँट ले, किसी को क्या पड़ी है? अपना दुःख कह मत, सह, अपने आप में रत रह।

वह सिकन्दर जब दुनिया से चला गया, तब यही कहा गया–

चला जग से सिकन्दर जब, सभी हाली-हवाली थे।
पड़ी थी पास में दौलत, मगर दो हाथ खाली थे।।

ऐसे ही चन्द्रगुप्त के भीतर अपने गुरु की प्रत्येक बात उतरती चली गई। उन्हें समझ में आ गया–बाह्य विभूति, राज्य, सत्ता, सेवक और अधीनस्थ राजा आदि कोई भी मुझे वास्तविक सुख नहीं दे सकते। मेरी आज्ञा का पालन कर रहे हैं, फिर भी मुझे सुख नहीं है; क्योंकि सुख तो मेरी आत्मा में है। मन, वचन, काय तीनों योगों को एकाग्र कर, एकांत में बैठने और भीतर ठहर जाने से ही उस सुख की अनुभूति होगी।

महानुभाव! ठहरना है, किन्तु ठहरें कैसे? आचार्य भगवन् नागसेन स्वामी जी ने तत्त्वानुशासन ग्रंथ में कहा है–

जिस प्रकार एक कार्य के करने से अनेक कार्य सम्पन्न होते हैं; जैसे दीपक जलाया, तो उससे अंधकार का नाश हुआ, प्रकाश हुआ, उसके माध्यम से उष्णता आयी, वह

कज्जल को उत्पन्न कर रहा है, उसमें से धुआँ भी निकल रहा है और वही दीपक अन्य गैस व दीपक को जलाने में भी प्रयुक्त होता है। अर्थात् एक कार्य से अनेक कार्य होते हैं। ऐसे ही आप अपने आप में ठहर जाओ तो बहुत सारे काम हो जाएँगे।

कई बार वैद्य लोग कहते हैं–यह औषधि ले लो, ये रामबाण औषधि है। कोई वैद्य कहता है–ऐलोवेरा (ग्वारपाठा) खाओ, यह दौ सौ रोगों की दवा है। कोई हल्दी को एंटीबायेटिक बताते हुए अनेक रोगों में उपयोगी कहता है। तात्पर्य यही है कि एक औषधि अनेक रोगों में लाभकारी हो सकती है। ऐसे ही आचार्य महोदय समझा रहे हैं–चंद्रगुप्त! ठहर जाओ, प्रशस्त ध्यान करो। राज-काज में अब तक बहुत श्रम किया।

राज समाज महा अघ कारन बैर बढ़ावन हारा।
वेश्या सम लक्ष्मी अति चंचल याका कौन पत्यारा॥

जब आप उस राजपाट को छोड़ आए, धन-वैभव छोड़कर आ गए तो अब प्रशस्त ध्यान करो। उस प्रशस्त ध्यान करने के लिए क्या करना है? जो कुछ अब तक कर रहे थे, वह सब कुछ छोड़कर शांति से बैठ जाओ। तो क्या पूजापाठ करना है? नहीं। जाप-हवन करना है? नहीं। दान देना है? नहीं। स्वाध्याय करना है? नहीं। फिर क्या करना है? कुछ करना ही नहीं है, बस अपने आपमें अंदर बैठ जाओ। न किसी को देखना है, न किसी को सुनना है। कुछ नहीं करने का नाम ही ध्यान है।

वत्स! बस अपने आप में ठहर जाओ। अब बाहर की कुटी में नहीं, अपनी आत्मा की कुटी में पहुँच जाओ। आत्मारूपी शाश्वत राज-सदन में पहुँच जाओगे तो अन्य सभी संकट स्वतः मिट जाएँगे। शरीर का कष्ट और शरीर के सुख-दुःख की अनुभूति आपको नहीं होगी। ठहर जाओ। गुरुदेव! ठहरने से क्या प्राप्त होगा? जब आपको, आनंद आएगा, तब आप स्वयं ही बताओगे कि क्या प्राप्त हुआ।

चन्द्रगुप्त ने एक शब्द में कह दिया-"गुरुदेव! मुझे सब कुछ मिल गया। अब मुझे विश्वास हो गया कि जो चाहिए, वो आगे मिल जाएगा। उस ध्यान से अरिहंत और सिद्ध अवस्था तक प्राप्त हो सकती है, चेतना के समस्त गुण प्राप्त हो सकते हैं, ऐसी कोई उपलब्धि नहीं जो इसके द्वारा प्राप्त करना असंभव हो।

उस ध्यान को संसारी भी कर सकता है और गृहस्थ भी; सम्यग्दृष्टि और व्रती भी कर सकते हैं-और करना चाहिए। गुरु महाराज कहते थे-भैया! आप पूजा-पाठ करो, ठीक है; पर पाँच मिनट ठहरना भी सीखो। महामंत्र भी पढ़ रहे हो तो 'णमो अरिहंताणं' कहकर थोड़ा ठहर जाओ, जब तक मन में कोई विकल्प न उठे तब तक 'णमो सिद्धाणं' की ओर मत बढ़ो।, पहले 'णमो अरिहंताणं' का स्वाद लो।

जैसे भोजन करते समय हम सब कुछ एक साथ नहीं खा जाते, धीमे-धीमे, स्वाद ले-लेकर खाते हैं। वैसे ही महामंत्र के प्रत्येक पद का आनंद लो। जब उस पद का आनंद कम होने लगे, तब आगे बढ़ जाओ-'णमो सिद्धाणं'।

कोई व्यक्ति गन्ना चूसता है, तो कब तक चूसता है? जब तक उसमें रस आता रहता है। पुनः दूसरा ग्रास चबाता है; ऐसे ही महामंत्र पढ़कर उसका आनंद लो। आनंद लेते-लेते आपके कष्ट, दुःख सब तिरोहित होते जाएँगे; जैसे प्रकाश आते ही अंधकार भाग जाता है।

अंधकार में होने वाले सभी कार्य प्रकाश के आते ही स्वयं नष्ट हो जाते हैं। जो अंधकार के अविनाभावी हैं वे अंधकार में ही हो सकते हैं, प्रकाश में नहीं। जो अवस्था अज्ञानता व आर्त-रौद्र ध्यान में प्राप्त होती है, वह आर्त-रौद्र ध्यान के जाते ही चली जाती है और धर्मध्यान के साथ होने वाली अवस्था प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार धर्मध्यान के माध्यम से ज्ञान की वृद्धि होती है।

पढ़-पढ़कर लोगों ने पुस्तकें फाड़ दीं, आँखों की रोशनी भंग कर दी, लिख-लिखकर डायरियों के ढेर लगा दिए, सैकड़ों पेनों की स्याही खर्च कर दी; पर क्या करें याद ही नहीं हो रहा। रट-रटकर, घोट-घोट कर परेशान हो गए फिर भी, याद नहीं हो पाया।

एक महाराज थे। उन्होंने एक सूत्र 'नाणो' को याद किया; 108 बार उस सूत्र की जाप लगाई, किन्तु ज्यों ही कक्षा में गुरु महाराज के पास गए, उन्होंने सूत्र पूछा, किन्तु वे बता नहीं पाए; भूल गए। जैसे शिवभूति मुनिमहाराज को महामंत्र बारह वर्ष तक याद नहीं हुआ।

भाई! रटने से याद नहीं होगा, रट्टू तोता मत बनो, समझो। आँखें बंद करके शान्ति से बैठ जाओ, अपने आप ज्ञान का क्षयोपशम बढ़ेगा। ध्यान के माध्यम से ज्ञानावरणीय

कर्म क्षयोपशम को प्राप्त होगा, दर्शनावरणीय कर्म क्षयोपशम को प्राप्त होगा, असातावेदनीय साता में परिवर्तित होगा। ध्यान के माध्यम से कदलीघात मरण की संभावना भी कम हो जाएगी। ध्यान के माध्यम से अन्य-अन्य अवस्थाएँ भी बदल सकती हैं। पाप प्रवृत्तियाँ पुण्य रूप हो सकती हैं। इसलिए ध्यान करो।

अप्रशस्त ध्यान से अज्ञान की वृद्धि होती है, दुःख और संक्लेशता की वृद्धि होती है। किन्तु प्रशस्त ध्यान से ज्ञान, सुख और विशुद्धि की वृद्धि होती है। ध्यान के माध्यम से अवधिज्ञान भी हो सकता है, मनःपर्ययज्ञान भी हो सकता है और केवलज्ञान भी। संसारी प्राणी ध्यान के माध्यम से श्री (लक्ष्मी) की प्राप्ति करता है। साधक है तो गुणरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। ध्यान के माध्यम से पुण्यायु प्राप्त होती है, अल्पायु भी टल सकती है। ध्यान के माध्यम से आरोग्य भी प्राप्त होता है

औषधि सेवन करते वर्षों निकल गए, अभी तक ठीक नहीं हो पाये, किन्तु भगवान के सामने ध्यान लगाया, भक्ति की, भगवान की भक्ति में डूब गए, तो कहाँ से स्वास्थ्य लाभ हो गया, पता ही नहीं चला।

ध्यान के माध्यम से आत्म संतोष प्राप्त होता है, गुणों का पोषण होता है और शरीर भी ओजमय हो जाता है—जैसे कोई मणि चमक रही हो। ध्यान के माध्यम से धृति भाव वृद्धि को प्राप्त होता है। इतना ही नहीं लोक में जितना भी प्रशस्त है, वह सब कुछ ध्यान के माध्यम से प्राप्त होता है।

अतः चन्द्रगुप्त! तुम भी ध्यान में अपना मन लगाओ। 'ध्यान ही आत्मा को परमात्मा रूप परिवर्तन करने वाला है।' ध्यान का आशय है—ठहर जाना और ठहरने का आशय है अपने आप में स्थिर हो जाना।

उस ध्यान का अभ्यास आप भी करें। कुछ क्षण संसार से नहीं, अपने विकल्पों से विराम लें। यही हमारा आपके प्रति सद्‌भाव है। इन्हीं सद्‌भावनाओं के साथ—

॥ श्री शान्तिनाथ भगवान की जय ॥

परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, प्राकृतभाषा चक्रवर्ती

आचार्य श्री १०८ वसुनंदी जी मुनिराज

द्वारा रचित व संपादित साहित्य

मौलिक कृतियाँ

(प्राकृत साहित्य)			
क्र.सं.	नाम	क्र.सं.	नाम
1.	प्राकृत वाणी भाग-1	2.	प्राकृत वाणी भाग-2
3.	प्राकृत वाणी भाग-3	4.	प्राकृत वाणी भाग-4
5.	प्राकृत वाणी भाग-5	6.	अहिंसगाहारो (अहिंसक आहार)
7.	अज्ज-सक्किदी (आर्य संस्कृति)	8.	अणुवेक्खा-सारो (अनुप्रेक्षा सार)
9.	जिणवर-थोत्तं (जिनवर स्तोत्र)	10.	जदि-किदि-कम्मं(यति कृतिकर्म)
11.	णंदिणंद-सुत्तं (नंदीनंद सूत्र)	12.	णिग्गंथ-थुदी (निर्ग्रन्थ स्तुति)
13.	तच्चसारो (तत्त्व सार)	14.	धम्म सुत्तं (धर्म सूत्र)
15.	अप्प-विहवो (आत्म वैभव)	16.	सुद्धप्पा (शुद्धात्मा)
17.	अप्पणिब्भर-भारदं (आत्मनिर्भर भारत)	18.	विज्जा-वसु-सावयायारो (विद्यावसु श्रावकाचार)
19.	रट्ठ-संति-महाजण्णो (राष्ट्र शांति महायज्ञ)	20.	अट्ठंग जोगो (अष्टांग योग)
21.	णमोयार महप्पुरो (णमोकार माहात्म्य)	22.	मूल-वण्णो (मूल वर्ण)
23.	मंगल-सुत्तं (मंगल सूत्र)	24.	विस्स-धम्मो (विश्व धर्म)
25.	विस्स-पुज्जो-दियंबरो (विश्व पूज्य दिगम्बर)	26.	समवसरण सोहा (समवसरण शोभा)
27.	वयण-पमाणत्तं (वचन प्रमाणत्व)	28.	अप्पसत्ती (आत्म शक्ति)
29.	कला-विण्णाणं (कला विज्ञान)	30.	को विवेगी (विवेकी कौन)
31.	पुण्णासव-णिलयो (पुण्यास्रव निलय)	32.	तित्थयर-णामत्थुदी (तीर्थंकर नाम स्तुति)
33.	रयणकंडो (सूक्ति कोश)	34.	धम्मस्स सुत्ति संगहो
35.	कम्म-सहावो (कर्म स्वभाव)	36.	खवगराय सिरोमणी (क्षपकराज शिरोमणि)
37.	सिरि सीयलणाह-चरियं (श्री शीतलनाथ चरित्र)	38.	अज्झप्प-सुत्ताणि (अध्यात्म सूत्र)
39.	समणायारो (श्रमणाचार)	40.	असोग-रोहिणी-चरियं (अशोक रोहिणी चरित्र) (महाकाव्य)
41.	लोगुत्तरविट्टी (लोकोत्तर वृत्ति)	42.	समणभावो (श्रमण भाव)
43.	झाणसारो (ध्यानसार)	44.	इड्ढिसारो (ऋद्धिसार)
45.	जिणवयणसारो (जिनवचनसार)	46.	भत्तिगुच्छो (भक्ति गुच्छ)
47.	पसमभावो (प्रशम भाव)	48.	सम्मेदसिहर महप्पुरो (सम्मेदशिखर महात्म्य)

49.	अम्हाण आयवत्तो (हमारा आर्यावर्त्त)	50.	विणयसारो (विनय सार)
51.	तव-सारो (तप सार)	52.	भाव-सारो (भाव सार)
53.	दाण-सारो (दान सार)	54.	लेस्सा-सारो (लेश्या सार)
55.	वेरग्ग-सारो (वैराग्य सार)	56.	णाण-सारो (ज्ञान सार)
57.	णीदि-सारो (नीति सार)	58.	आयंस-सिक्खाविही (आदर्श शिक्षाविधि)
59.	दंसण-परिक्खा (दर्शन परीक्षा)	60.	महाणुभावो (महानुभाव)
61.	उववासो (उपवास)	62.	संजम-सारो (संयमसार)
63.	सम्मत्त-सारो (सम्यक्त्व सार)	64.	सज्जण-वयण-विलासो (सज्जन वचन विलास)
65.	विदु-वाणी	66.	सूदग-पादग-णिण्णय-विही (सूतक-पातक निर्णय विधि)
67.	सगसरूवावलोयणं (स्वस्वरूपावलोकन)	68.	सुद्धप्प-थुदी-(शुद्धात्म स्तुति)
69.	पण्ह-बोहो (प्रश्न बोध)	70.	मइथिली-सुत्तं (मैथिली सूत्र)

टीका ग्रंथ

1.	प्रमेया टीका-रत्नमाला (संस्कृत)	2.	वसुधा टीका-द्रव्यसंग्रह (संस्कृत)
3.	नय प्रबोधिनी-आलाप पद्धति (हिंदी)	4.	श्रीनंदा टीका-सिद्धिप्रिय स्तोत्र (संस्कृत)

इंग्लिश साहित्य

1.	Inspirational Tales Part& 1&2	2.	Meethe Pravachan Part-I

वाचना साहित्य

1.	इष्टोपदेश (मुक्ति का वाग्दान)	2.	प्रश्नोत्तर रत्नमालिका (बोधि वृक्ष)
3.	सामायिक पाठ (शिवपथ का रथ)	4.	समाधि तंत्र (स्वात्मोपलब्धि)
5.	रत्नकरण्ड श्रावकाचार (श्रावकधर्म-संहिता)	6.	ज्ञानांकुश (तत्त्व चिंतन के सूत्र)

प्रवचन साहित्य

1.	आईना मेरे देश का	2.	उत्तम क्षमा धर्म (आत्मा का ए.सी. रूम)
3.	उत्तम मार्दव धर्म (मान महाविष रूप)	4.	उत्तम आर्जव धर्म (रंचक दगा बहुत दुःखदानी)
5.	उत्तम शौच धर्म (लोभ पाप का बाप बखाना)	6.	उत्तम सत्य धर्म (सतवादी जग में सुखी)
7.	उत्तम संयम धर्म (जिस बिना नहिं जिनराज सीझे)	8.	उत्तम तप धर्म (तप चाहे सुरराय)
9.	उत्तम त्याग धर्म (निज हाथ दीजे साथ लीजे)	10.	उत्तम आकिंचन धर्म (परिग्रह चिंता दुःख ही मानो)

11.	उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म (चेतना का भोग)	12.	खुशी के आँसू
13.	खोज क्यों रोज-रोज	14.	गुरुत्तं भाग 1
15.	गुरुत्तं भाग 2	16.	गुरुत्तं भाग 3
17.	गुरुत्तं भाग 4	18.	गुरुत्तं भाग 5
19.	गुरुत्तं भाग 6	20.	गुरुत्तं भाग 7
21.	गुरुत्तं भाग 8	22.	गुरुत्तं भाग 9
23.	गुरुत्तं भाग 10	24.	गुरुत्तं भाग 11
25.	गुरुत्तं भाग 12	26.	गुरुत्तं भाग 13
27.	गुरुत्तं भाग 14	28.	गुरुत्तं भाग 15
29.	गुरुत्तं भाग 16	30.	गुरुत्तं भाग 17
31.	गुरुत्तं भाग 18	32.	गुरुत्तं भाग 19
33.	गुरुत्तं भाग 20	34.	गुरुत्तं भाग 21
35.	चूको मत	36.	जय बजरंगबली
37.	जीवन का सहारा	38.	ठहरो! ऐसे चलो
39.	तैयारी जीत की	40.	दशामृत
41.	धर्म की महिमा	42.	ना मिटना बुरा है न पिटना
43.	नारी का धवल पक्ष	44.	शायद यही सच है
45.	श्रुत निर्झरी	46.	सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य की शौर्य गाथा
47.	सीप का मोती (महावीर जयंती)	48.	स्वाती की बूँद

हिंदी गद्य रचना			
1.	अन्तर्यात्रा	2.	अच्छी बातें
3.	आज का निर्णय	4.	आ जाओ प्रकृति की गोद में
5.	आधुनिक समस्यायें प्रमाणिक समाधान	6.	आहारदान
7.	एक हजार आठ	8.	कलम पट्टी बुद्धिका
9.	गागर में सागर	10.	गुरु कृपा
11.	गुरुवर तेरा साथ	12.	जिन सिद्धांत महोदधि
13.	डॉक्टरों से मुक्ति	14.	दान के अचिन्त्य प्रभाव
15.	धर्म बोध संस्कार (भाग 1-4)	16.	धर्म संस्कार (भाग 1-2)
17.	निज अवलोकन	18.	वसु विचार
19.	वसुनन्दी उवाच	20.	मीठे प्रवचन (भाग 1)
21.	मीठे प्रवचन (भाग 2)	22.	मीठे प्रवचन (भाग 3)
23.	मीठे प्रवचन (भाग 4)	24.	मीठे प्रवचन (भाग 5)
25.	मीठे प्रवचन (भाग 6)	26.	मीठे प्रवचन (भाग 7)

27.	मीठे प्रवचन (भाग 8)	28.	रोहिणी व्रत कथा
29.	स्वप्न विचार	30.	सद्‌गुरु की सीख
31.	सफलता के सूत्र	32.	सर्वोदयी नैतिक धर्म
33.	संस्कारादित्य	34.	हमारे आदर्श

हिंदी काव्य रचना			
1.	अक्षरातीत	2.	कल्याणी
3.	चैन की जिंदगी	4.	ना मैं चुप हूँ ना गाता हूँ
5.	मुक्ति दूत के मुक्तक	6.	हाइकू
7.	हीरों का खजाना	8.	सुसंस्कार वाटिका

विधान रचना			
1.	कल्याण मंदिर विधान	2.	कलिकुण्ड पार्श्वनाथ विधान
3.	चौसठऋद्धि विधान	4.	णमोकार महार्चना
5.	दु:खों से मुक्ति (बृहद् सहस्रनाम महार्चना)	6.	यागमंडल विधान
7.	श्री समवशरण महार्चना	8.	श्री नंदीश्वर विधान
9.	श्री सम्मेदशिखर विधान	10.	श्री अजितनाथ विधान
11.	श्री संभवनाथ विधान	12.	श्री पद्मप्रभ विधान
13.	श्री चंद्रप्रभ विधान (देहरा तिजारा)	14.	श्री चंद्रप्रभ विधान
15.	श्री पुष्पदंत विधान	16.	श्री शांतिनाथ विधान
17.	श्री मुनिसुव्रतनाथ विधान	18.	श्री नेमिनाथ विधान
19.	श्री महावीर विधान	20.	श्री जम्बूस्वामी विधान
21.	श्री भक्तामर विधान	22.	श्री सर्वतोभद्र महार्चना
23.	श्री पंचमेरू विधान	24.	लघु नंदीश्वर विधान
25.	श्री चौबीसी महार्चना	26.	अभिनव सिद्धचक्र महार्चना
27.	अभिनव सिद्धचक्र मंत्रार्चना		

संपादित कृतियाँ (संस्कृत प्राकृत साहित्य)			
1.	आराधना सार (श्रीमद्देवसेनाचार्य जी)	2.	आराधना समुच्चय (श्री रविचन्द्राचार्य)
3.	आध्यात्म तरंगिणी (आचार्य सोमदेव सूरी जी)	4.	कर्म विपाक (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
5.	कर्मप्रकृति (सिद्धांतचक्रवर्ती आ. श्री अभयचंद्र जी)	6.	गुणरत्नाकर (रत्नकरण्ड श्रावकाचार) (आ. श्री समंतभद्र स्वामी जी)
7.	चार श्रावकाचार संग्रह	8.	जिनकल्पि सूत्र (श्री प्रभाचंद्राचार्य जी)

9.	जिन श्रमण भारती (संकलन-भक्ति, स्तुति, ग्रंथादि)	10.	जिन सहस्रनाम स्तोत्र
11.	तत्त्वार्थ सार (श्री मदमृताचन्द्राचार्य सूरि)	12.	तत्त्वार्थस्य संसिद्धि
13.	तत्त्वार्थ सूत्र (आ. श्री उमास्वामी जी)	14.	तत्त्वज्ञान तरंगिणी (श्री मद्भट्टारक ज्ञानभूषण जी)
15.	तच्च वियारो सारो (आ. श्री वसुनंदी जी)	16.	तत्व भावना (आ. श्री अमितगति जी)
17.	धर्म रत्नाकर (श्री जयसेनाचार्य जी)	18.	धम्म रसायण (आ. श्री पद्मनंदी स्वामी जी)
19.	ध्यान सूत्राणि (श्री माघनंदी सूरी)	20.	नीतिसारसमुच्चय (आ. श्री इंद्रनंदीस्वामी जी)
21.	पंच विंशतिका (आ. श्री पद्मनंदी जी)	22.	प्रकृति समुत्कीर्तन (सिद्धांत चक्रवर्ती श्री नेमीचंद्राचार्य जी)
23.	पंचरत्न	24.	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (आ. श्री अमृतचंद्रस्वामी जी)
25.	मरणकण्डिका (आ. श्री अमितगति जी)	26.	भगवती आराधना (आ. श्री शिवकोटी स्वामी जी)
27.	भावत्रयफलप्रदर्शी (आ. श्री कुंथुसागर जी)	28.	मूलाचार प्रदीप (आ. श्री सकलकीर्तिस्वामी जी)
29.	योगामृत (भाग 1-2) (मुनि श्रीबाल चंद्र जी)	30.	योगसार (भाग 1, 2) (मुनि श्री बालचंद्र जी)
31.	रयणसार (आ. श्री कुंदकुंद स्वामी)	32.	वसुऋद्धि
*	रत्नमाला (आ. श्री शिवकोटि स्वामी जी)	*	स्वरूप संबोधन (आ. श्री अकलंक देव जी)
*	पूज्यपाद श्रावकाचार (आ. श्री पूज्यपाद जी)	*	इष्टोपदेश (आ. श्री पूज्यपाद स्वामी जी)
*	लघु द्रव्य संग्रह (आ. श्री नेमीचंद्र स्वामी जी)	*	वैराग्यमणिमाला (आ. श्री विशालकीर्ति जी)
*	अर्हत् प्रवचनम् (आ. श्री प्रभाचंद्र स्वामी जी)	*	ज्ञानांकुश (आ. श्री योगीन्द्र देव)
33.	सुभाषित रत्न संदोह (आ. श्री अमितगतिस्वामी जी)	34.	सिन्दूर प्रकरण (आ. श्री सोमदेव स्वामी जी)
35.	समाधि तंत्र (आ. श्री पूज्यपाद स्वामी जी)	36.	समाधि सार (आ. श्री समंतभद्र स्वामी जी)
37.	सार समुच्चय (आ. श्री कुलभद्र स्वामी जी)	38.	विषापहार स्तोत्र (महाकवि धनंजय)

प्रथमानुयोग साहित्य			
1.	अमरसेन चरित्र (कविवर माणिक्कराज जी)	2.	आराधना कथा कोश (ब्र. श्री नेमीदत्त जी) (भाग 1-2-3)
3.	करकण्डु चरित्र (मुनि श्री कनकामर जी)	4.	कोटिभट श्रीपाल चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
5.	गौतम स्वामी चारित्र (मण्डलाचार्य श्री धर्मचंद्र जी)	6.	चारूदत्त चरित्र (ब्र. श्री नेमीदत्त जी)

7.	चित्रसेन पद्मावती चरित्र (पं. पूर्णमल्ल जी)	8.	चेलना चरित्र
9.	चंद्रप्रभ चरित्र	10.	चौबीसी पुराण
11.	जिनदत्त चरित्र (कविवर ब्रह्मराय)	12.	त्रिवेणी (संग्रह ग्रंथ)
13.	देशभूषण कुलभूषण चरित्र	14.	धर्मामृत (भाग 1-2) (श्री नयसेनाचार्य जी)
15.	धन्यकुमार चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)	16.	नागकुमार चरित्र (आ. श्री मल्लिषेण जी)
17.	नंगानंग कुमार चरित्र (श्रीमान् देवदत्त)	18.	प्रभंजन चरित्र (कविवर ब्रह्मराय)
19.	पाण्डव पुराण (श्री मदाचार्य शुभचंद्र देव)	20.	पार्श्वनाथ पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
21.	पुण्याश्रव कथा कोष (भाग 1-2) (श्री रामचंद्र मुमुक्षु)	22.	पुराण सार संग्रह (भाग 1-2) (आ. श्री दामनंदी जी)
23.	भरतेश वैभव (कवि रत्नाकर)	24.	भद्रबाहु चरित्र
25.	मल्लिनाथ पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)	26.	महीपाल चरित्र (कविवर श्री चारित्र भूषण)
27.	महापुराण (भाग 1-2)	28.	महावीर पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
29.	मौनव्रत कथा (आ. श्री श्रीचंद्र स्वामी जी)	30.	यशोधर चरित्र
31.	रामचरित्र (भाग 1-2) (आ. श्री सोमदेव स्वामी)	32.	रोहिणी व्रत कथा
33.	व्रत कथा संग्रह	34.	वरांग चरित्र (आ. श्री जटासिंह नंदी)
35.	विमलनाथ पुराण (श्री ब्रह्मचारीश्वर कृष्णदास जी)	36.	वीर वर्धमान चरित्र
37.	श्रेणिक चरित्र	38.	श्रीपाल चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
39.	श्री जम्बूस्वामी चरित्र (श्री वीर कवि)	40.	शांतिनाथ पुराण (भाग 1-2) (कवि असग जी)
41.	सप्तव्यसन चरित्र (आ. श्री सोमकीर्ति भट्टारक)	42.	सम्यक्त्व कौमुदी
43.	सती मनोरमा	44.	सीता चरित्र (श्री दयाचंद गोलीय)
45.	सुरसुंदरी चरित्र	46.	सुलोचना चरित्र
47.	सुकुमाल चरित्र	48.	सुशीला उपन्यास (पं. गोपालदास बरैया)
49.	सुदर्शन चरित्र (आ. विद्यानंदि मुनि)	50.	सुभौम चक्रवर्ती चरित्र
51.	हनुमान चरित्र	52.	क्षत्र चूड़ामणि (जीवंधर चरित्र)

संपादित हिंदी साहित्य

1. अरिष्ट निवारक त्रय विधान
   - नवग्रह विधान • वास्तु निवारण विधान • मृत्युंजय विधान (पं. आशाधर जी कृत)

2.	श्री जिनसहस्रनाम एवं पंचपरमेष्ठी विधान		
3.	श्री जिनसहस्रनाम विधान (लघु) आदि एक नाम अनेक		
4.	शाश्वत शांतिनाथ ऋद्धि विधान • भक्तामर विधान (आ. मानतुंग स्वामी जी (मूल) • शांतिनाथ विधान (पं. ताराचंद्र जी) • सम्मेदशिखर विधान (पं. जवाहर दास जी)		
5.	कुरल काव्य (संत तिरुवल्लुवर)	6.	तत्त्वोपदेश (छहढाला) (पं. प्रवर दौलतराम जी)
7.	दिव्य लक्ष्य (संकलन- हिंदी पाठ, स्तुति आदि)	8.	धर्म प्रश्नोत्तर (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
9.	प्रश्नोत्तर श्रावकाचार (आ. श्री सकलकीर्ति जी)	10.	भक्तिसागर (चौबीसी चालीसा संग्रह)
11.	विद्यानंद उवाच (आ. श्री विद्यानंद जी मुनिराज)	12.	सुख का सागर (चौबीसी चालीसा)
13.	संसार का अंत	14.	स्वास्थ्य बोधामृत
15.	पिच्छि-कमण्डलु (आ. श्री विद्यानंद जी मुनिराज)		

गुरु पद विनयांजली साहित्य

1.	आचार्य श्री विद्यानंद जी की यम सल्लेखना (मुनि प्रज्ञानंद)	2.	अक्षर शिल्पी (मुनि शिवानंद)
3.	पगवंदन (मुनि शिवानंद प्रशमानंद)	4.	वसुनंदी प्रश्नोत्तरी (मुनि जिनानंद, ऐ. विज्ञान सागर)
5.	दृष्टि दृश्यों के पार (आ. श्री वर्धस्व नंदनी, वर्चस्व नंदनी)	6.	स्मृति पटल से भाग-1 (आ. श्री वर्धस्व नंदनी)
7.	स्मृति पटल से भाग-2 (आ. श्री वर्धस्व नंदनी)	8.	अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी (ऐलक विज्ञान सागर)
9.	गुरु आस्था (ऐलक विज्ञान सागर)	10.	परिचय के गवाक्ष में (ऐलक विज्ञान सागर)
11.	स्वर्णोदय (ऐलक विज्ञान सागर)	12.	स्वर्ण जन्मजयंती महोत्सव (ऐलक विज्ञान सागर)
13.	हस्ताक्षर (ऐलक विज्ञान सागर)	14.	वसु संबुध (महाकाव्य) (प्रो. डॉ. उदयचंद जी जैन)
15.	समझाया रविन्दु न माना (सचिन जैन 'निकुंज')		

जिणवाणी-थुदी

महुरं विसदं पिय-गंभीरं
हिदयरं मिदं सिरिजिणवाणिं।

अणेगंतमयं सिआवायमयं
णिरुवमं समं सिरिजिणवाणिं।

जिणसव्वंगादो णिस्सरिदं
भविचित्तहरं सिरिजिणवाणिं।

बारस-अंगेहिं संजुत्तं
लोएपुज्जं सिरिजिणवाणिं।

कंठादिवचोकारणरहिदं
तयरोयहरं सिरिजिणवाणिं।

जगमंगल्लं जगकल्लाणिं
पणमामि सया सिरिजिणवाणिं।